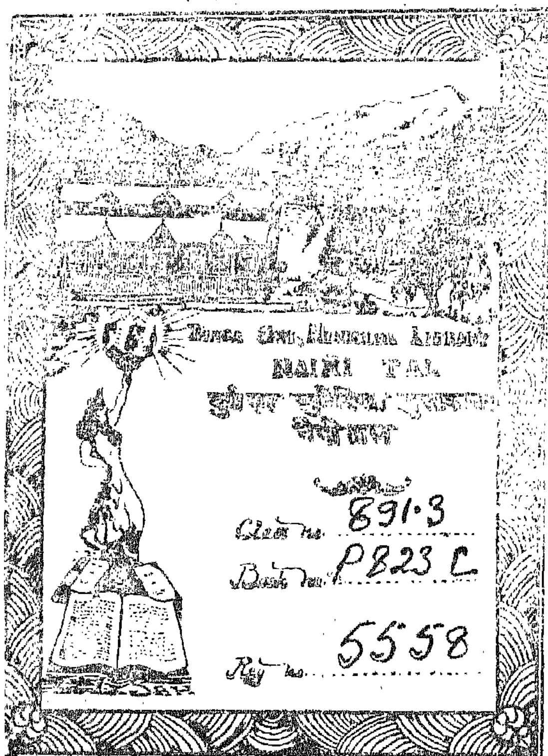


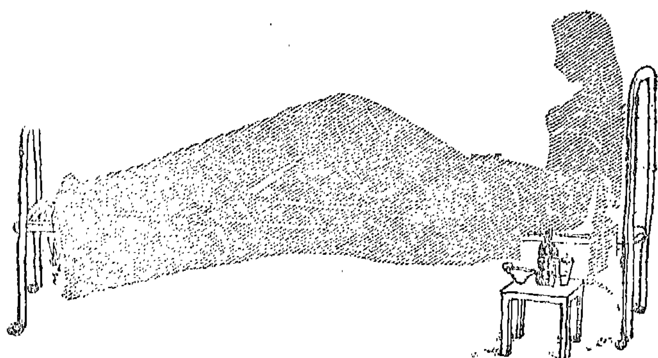
Durga Sah Municipal Library
NAINI TAL
दुर्गासाह म्युनिसिपल लाइब्रेरी
नैनीताल
Class No. 891.3
Book No. P823 C
Reg No. 5558

उसके पास बाप की कमाई थी और वह इकलौता बेटा था। लम्पट स्वभाव और इसपर कवि होने का दम्भ। वह घाट-घाट का पानी पीता रहा, पर प्यास नहीं बुझी—नहीं बुझी। तब उसने एक प्रतिभा-सम्पन्न कवयित्री कुमारी से विवाह कर लिया। पर भाग्य की विडम्बना! यह कुमारी पहले से किसीको समर्पित हो चुकी थी, मन से। और वह चाहती थी कि उसका तन भी अस्पृष्ट रहे।

···प्रकाशवती का यह उपन्यास नई शैली में प्रस्तुत हुआ है। लेखिका ने भावाविष्ट होकर इसकी रचना की है। यही कारण है कि इसमें शैली की नवीनता के साथ-साथ गतिशीलता भी आ गई है।

चार परतें

इस उपन्यास के सभी पात्र, स्थान और घटनाएं कल्पित



पहली परत

वांछा
हस्पताल का सर्जिकल वार्ड

खामोश दीवारों से टकराकर परेशान स्वर छाती में जैसे आरे की तरह लगता है। अपने ही कानों पर विश्वास नहीं होता, वह स्पष्ट, मधुर और हजारों के बीच पहचाना जानेवाला स्वर कहाँ खो गया ? हृदय-शिराओं को जिन लोहे के हाथों ने बूँद-बूँदकर निचोड़ लिया, उसीके नीचे आवाज भी दब गई; वह आवाज़ जो स्वयं अपने ही कानों में उमंग भरती थी, वह आवाज जिसपर रीझकर निर्मोही ने मुझे 'कोयल' कहकर पुकारा था, वेदना के किस अतल में लुप्त हो रही ?

सारी माधुरी खो गई, मात्र तड़प और दाह-भर ही बाकी है। बीते बसन्त की कोयल को जैसे रह-रहकर अपने भूले दिनों की हूक उठती है, प्राणों को मथकर यह व्यथा, अनुताप और कुहक उसी तरह फूट उठती है।

पुरुषोत्तम, क्या सूझा था तुम्हें ? विलास और सुख की सबसे ऊँची चोटी पर चढ़कर जितना-भर तुमने देखा, उससे मन नहीं भरा तुम्हारा ? इस जीवन का जितना अपमान कर चुके थे, वह पर्याप्त नहीं था कि

इस मरघट की राख कुरेदने आये ? इस समाधि को तीरों से बेधने और पाँवों से रौंदने में तुम्हें क्या मिला ? तुम सदा ही कौतुकी रहे हो। कितने कौतुक रचे हैं। एक यह भी सही।

आह, किस वज्रशिला पर सर पटक रही हूँ मैं ? वह तो सदा से ही नारी-पीड़ा का विलासी रहा है। उसे तेरे दुख-दर्द से क्या ? उसके चरण जिस ओर उठ जाते हैं, वसन्तश्री की गंध-माधुरी, मादक-रज उड़ने लगती है, उसे कोयल की तड़प से क्या ताल्लुक ?

इन ठोकरों ने बार-बार कहा—लौट जाऊँ, मगर प्रीत इतनी हठीली है कि मानती ही नहीं। बारह वर्ष की नाज़ुक वय से बत्तीस वर्ष की प्रौढ़ि तक उसीके पीछे भागती रही। अब लौटकर जाऊँ भी कहाँ ?

इस जन्म में उसे भूल जाना संभव है ? उसे भूलकर जी सकोगी तुम ! वह कैसा मुहूर्त था, जब उसके नाम से तुम्हारा परिचय हुआ, अभागिन !

गुड़ियों के खेल में मशगूल देखकर माँ ने चिढ़कर कहा था—'पता नहीं कैसे यह पगली ससुराल बसेगी ? जब देखो, घरौंदे में ही बनी है, घर के काम-काज में तो इसका मन ही नहीं लगता।'

और गुस्से से भरकर भावी जोड़े के साथ सारी गुड़ियों को, मंडप और घरौंदे की ईंटें तक कुएँ में फेंक आई थी।

बिरजू घर का पुराना नौकर था, एक-एक कर सारी चीजें कुएँ से निकाल लाया और माँ ने गले पर सवार होकर उन विरूप जोड़ों का ब्याह करवा दिया। फिर यह किसका शाप लगा है ?

उसी दिन स्कूल से लौटती बार श्यामा ने टहोका दिया था—'उधर कहाँ चली ? चल, इधर चलें। इधर पुरुषोत्तम बैठे हैं।'—

—'मर्यादापुरुषोत्तम ! अच्छा, तो इस बार बाघ-भालू के रूप में अवतार लिया है ?'

—'नहीं, तेरे होनेवाले दूल्हे का मॉडल बनकर आया है। जा आँखें जुड़ा ले।'

और जाने क्यों कान तक आरक्त हो उठे। अनजाने में जाने कौन जैसे मुँह गुलाल भर गया।

और श्यामा गले में बाँहें डाले फुलवारी में खींच ले गई थी—'सच वांछा, आजी ने मना किया है, उसके सामने कोई नहीं जाए।'

—'क्यों ?'

—'अरे वह बड़ा 'वो' है, लड़कियों को देख-देख कर उनके दोष निकाला करता है !'

श्यामा की ओर क्षण-भर गंभीरता से देखकर कहा—'चिन्ता न कर, तुझमें कोई दोष नहीं निकालेंगे। तू स्वयं ही बड़ी सुन्दर है !'

गुस्से में श्यामा ने कई चपतें जड़ दीं—'चल, मुंहजली, अपने को देख पहले !'

अपने कमरे में आकर किताबें टेबल पर फेंक दीं और कान लगाकर दूसरे कमरे से उठते अट्टहास का स्वर सुनती रही। दीवार की आड़ होने पर भी हँसी की आर्द्र फुहारें प्राणों को तर कर रही थीं। यह प्रथम शब्द-स्पर्श था। दूसरे दिन से ही सारा घर व्यस्त हो उठा। सुना चाचा के कोई मित्र आए हैं, गर्मी की छुट्टियाँ यहीं बितायेंगे। मैंने चाचा के तकिये के गिलाफ पर सुन्दर-सी तितली काढ़ी थी, देखा उस दिन वही गिलाफ उनके तकिये में लगाया गया है। और माँ के कहने पर सुबह जलपान की तश्तरियाँ लेकर चाचा के कमरे में जाती हूं तो वहाँ किसी अजनबी को उस निर्जीव तितली की पाँखों से खेलते देखकर ठिठक जाती हूँ।

उन्होंने मुझे देखते ही पूछा—'तुमने बनाई है ? बहुत सुन्दर बन पड़ी है।'

मैं मौन रह जाती हूँ।

तभी चाचा बाथरूम से निकलते हैं। एक बड़ा-सा तौलिया उन्होंने लपेट रखा है और आइने के सामने खड़े होकर सँवर रहे हैं। उनके दुहरे गोरे अंगों पर पानी की बूँदें बड़ी ही सुहानी लग रही हैं। रोज़ ही तो देखा करती हूँ, पर चाचा इतने अच्छे हैं, आज ही जैसे लगता है, पहली बार ! मेरे हाथ दर्द करने लगे हैं। पुकार उठती हूँ—'चाचा, माँ ने पूछा है अभी दूध पियोगे या दही खाओगे (चाय तब तक हमारे घरों में नहीं आई थी।)'

'बोलो, क्या मँगाऊँ ?'—उन्होंने मित्र से पूछा। मैं जैसे कुछ हूँ ही नहीं। फिर रोनी-सी पूछती हूं—'चाचा !'

तभी चाचा को ध्यान आता है—'अरे बेबी, अभी तक खड़ी है ? यहाँ रख ले, ला।'

और वे होंठों में ही हंसते हैं—'बेचारी को किसीने कहा नहीं ! तुम्हें नहीं आता तो वही 'कर्ट्सी' निभा रही है।'

चाचा मेरी ओर घूमते हैं—'बेबी, तूने इन्हें पहचाना नहीं ? ये ही अजित पुरुषोत्तम हैं। और, इसे तो तुम जानते ही हो, मेरी बेटी—वांछा !'

मेरी दोनों हथेलियाँ जुड़ती हैं, मगर उन्होंने शरारत से अपना हाथ बढ़ाकर शेकहैंड के बहाने जाने कौन-सी नस छू दी मेरी। सारे शरीर में नई सिहरन और अननुभूत रोमांच लिए मैं उस कमरे से बिल्कुल ही बदल-कर निकली।

दूध का गिलास लेकर जब दुबारा जाती हूँ, वे कहते हैं—'बहुत अच्छी तितली बनी है, जी करता है, इसकी पांखें कतरकर रख लूं।'

मेरी दृष्टि उनकी मूंछों तक जाकर लौट आती है और अचानक मुस्करा कर भाग जाती हूं।

चाचा ने उनके कुछ रूमाल, तकिये के गिलाफ काढ़ने के लिए दिए हैं। और मैंने जान-बूझकर शरारत की है; क्योंकि मुझे मां के इस कथन से सख्त विरोध है—'बेचारा बड़ा सीधा है।' याद की परछाइयां फिर कांपती हैं—सुनती हूं इस कलयुग में भी कुंभकरण की विरासत उन्हें ही मिली है !

दोपहर में वे अकेले चाचा के कमरे में सोये हैं। मैं दबे पांव प्रवेश करती हूं और ठगी-सी रह जाती हूं।

वे नीचे दरी पर ही सो गए हैं। सामने कानून की मोटी-मोटी पुस्तकें खुली पड़ी हैं। एकटक देख रही हूं—प्रलंब बाहु, सघन रोमावली से भरा विशाल वक्ष, लंबी सीधी नाक और बड़ी-बड़ी बंद आंखों में जाने कैसे सपने भरे हैं ! गले, मुंह और देह पर पसीने की छोटी-छोटी बूंदें चाचा

के सद्य:स्नात जलबिन्दुओं से भी शोभन, आत्मीय और प्रिय लग रही हैं !

जाने इस कच्चे मन में कौन-सा आन्दोलन उठा, इच्छा हुई अपने दुपट्टे से पसीना पोंछ दूं । तभी श्यामा पीछे से झकझोर देती है । उसके हाथ में फुलवारी पटाने की टूटी पाइप के दो टुकड़े हैं । सलाह पहले ही पक्की हो चुकी थी, मैं तो सिर्फ टोह लेने आई थी !

किसी अज्ञात प्रेरणा से उनके सिरहाने बैठकर छाती पर पड़ा वही तकिया लेकर आहिस्ता से उनका सिर रख देती हूं ! श्यामा फिर कुरेदती है और मैं पाइप के दोनों टुकड़ों के सिरे उनके कानों में फिट कर जरा दूर हट जाती हूं ।

श्यामा के हाथ में पानी से भरा गिलास है, लेकिन मैं योजना के विपरीत आचरण कर बैठी । पाइप के दूसरे सिरे से श्यामा द्वारा गिराई पानी की धार उनके कान में प्रवेश कर पाती, उसके पहले ही अपनेवाले टुकड़े से मुँह सटाकर, शक्ति-भर फूंक भर दी—कू···कूSSS !

—लो, उस दिन तुमने मुझे गाते सुनकर कोयल—'काली कोयल' कहकर चिढ़ाया था न, लो !—फिर उनका जगना, कान पीटना, एक-साथ ही खीझ और रीझ-भरी हँसी, फिर हाथ बढ़ाकर हमें पकड़ने के असफल प्रयास का आनन्द हम दूर ही खड़े होकर लेते रहे ! मगर परोक्ष में जो कुछ हुआ, वह ठीक इससे उलटा । सबकी नजर बचाकर अपनी हथेलियाँ, जिनमें उनके केशों की खुशबू लग गई थी, जाने कब तक सूँघती रही, सूँघती रही और रो पड़ी । न जाने किस फूल की गंध थी वह, जो बारह साल की बालिका की आत्मा में गंध बनकर घुल गई ।

याद की परछाइयां काँपती हैं और परतें फिर खुलती हैं···

क्रिसमस पर वे फिर आए हैं लेकिन घर में कुछ ऐसा है कि नया-नया, सूना-सूना लग रहा है । बिहारी चाचा पिताजी के चचेरे भाई हैं और बाबा (चाचा के पिताजी) ने अपने पुराने घर से बीसेक गज दूर एकदम नये फैशन का नया घर बनवाया है । उसे सभी 'कोठी' कहते हैं । पुरानी ड्योढ़ी के गिर्द घिरे पिताजी 'मालिकजी' ही रह गए, मगर बिहारी चाचा को लोग 'साहब' कहते हैं । मक्खन-मिश्री की तरह घुलनेवाली श्यामा

उनकी नई गाड़ी (कार) में चढ़कर रोज़ शहर के कालिज में जाती है, मैं परम्पराओं की, पिताजी की ज़िद और सीमित रेखाओं के घेरे में बैठी शाम होने की राह देखा करती हूं। ये ही तो तीन-चार घंटे हैं, जब बीस गज़ की दूरी सिमटकर बांहों में आ जाती है। बिहारी चाचा शाम को जब श्यामा को पढ़ाने बैठते हैं—सभीके साथ वांछा को भी नहीं भूलते! मगर आज दोपहर में ही सुना 'वे' फिर आए हैं। श्यामा का कालिज भी कल से बन्द है। जाड़े की ऊँघती दोपहरी में सहसा ही किसीके स्वर लहराकर आकाश तक चढ़ गए। माँ के पास बैठी हम दोनों—मैं और श्यामा—'मोज़े की एड़ी' बना रही थीं, एकाएक उछलकर छत की सीढ़ियों की ओर जो भागीं, ऊन का गोला समेटते, बकझक करते मां को भी ऊपर आना पड़ा। बिहारी चाचा की कोठी में ही बंजारिन का नाच हो रहा था। बंजारिन की बलखाती कमर, उन्नत वक्ष, हवा में लहराता काला दुपट्टा और लहर जैसी चाल पर मंत्रमुग्ध होते पुरुषोत्तम को देखकर जाने कैसी ईर्ष्या की आग लहक उठी! बीच-बीच में गीत की टेक उठाकर लगता जैसे वह अपने ही प्राणों की व्यथा खोल रही हो :

बना गैलऽ हो, मोहे काली कोइलियाँ!
···बारी उमर सुलगूँ दिन रतियाँ,
पीर उठै दरके मोरी छतियाँ···
बजा गैलऽ हो, रस भीनी बसुरियाँ!

बस, यह एक ही चीज़ है जिसपर अपने को साधकर तू बंजारिन से होड़ ले सकती है, वांछा!—किसीने प्राणों में कहा।

प्रत्येक पंक्ति के अन्त में व्यर्थ का 'अनुस्वार' उस रस-भीगे पेशेवर कंठ से भी दोष ही प्रतीत होता है। मैं इसी गीत को प्राणों की समस्त साधना से गाऊँगी!

और कितनी बार तन्मय होकर जब इसे गाया करती, लगता बंजारिन का सुधरा हुआ स्वर ही गूँज उठा हो! मुझे नई प्रतीति हुई, बंजारिन से कहीं मीठा स्वर स्वयं मेरा है!

एक रात इसी तरह खुली छत पर तारों की ओर देखते-देखते आँसू और याद में डूबकर, तन्मय होकर जब गा रही थी—

'बना गैलऽ हो, मोहे काली कोइलियाँ !

श्यामा ने आकर टहोका दिया था––'इस तरह मत गाया कर, वांछा, पुरुषोत्तम अभी इसी छत के नीचे खड़े सुन रहे थे। मुझे देखा तो हड़-बड़ाकर पूछ बैठे—कौन गा रही है ?—तुम्हारा नाम सुनकर ही वापस लौट गए।'

फिर जाने सारी रात मन कैसा-कैसा होता रहा।

उन दिनों उनका मोल-तोल बढ़ रहा था। स्वयं अपने घर में दो दल हो गए थे। माँ विरोधी पक्ष में थी—'उतनी कड़ी उम्र का है वह, मेरी वांछा के मुँह से दूध की गंध भी नहीं मिटी !'

लेकिन पड़ोस में अपनी भीगी पलकों का राज खुल गया। शब्दों के बाण रोम-रोम में गँस रहे थे। गाँव की बड़ी-बूढ़ियाँ भी व्यंग्य करने से बाज नहीं आतीं।

और इन्हीं तीर-तानों के बीच खोई-खोई-सी, एकान्त में बैठी घंटों रोया करती। सिर घूमता गया, घूमता गया···और, आँखें खुलने पर देखा—खाट के चारों ओर लोगों से घिरी माँ की गोद में पड़ी हूं !

फिर तो यह साधारण-सी बात हो गई। जाने कैसा तो मन होने लगता और सारी सुध-बुध खो जाती।

माँ की डाँट, पिताजी की कठोर दृष्टि मुझसे कुछ नहीं उगलवा सकीं। जानती थी केवल श्यामा और पता नहीं कैसे उनपर भी इस रोग का राज जाहिर हो चुका था। अब तो उनका आना भी कम हो गया था। कई बार श्यामा से सुना, उन्होंने श्यामा को अपने आने की सूचना मुझे देने से मना किया है। श्यामा के कारण पूछने पर केवल हल्की-सी डाँट-भर ही दी।

एक दिन श्यामा ने ही कहा कि वे उससे कह रहे थे कि वह (श्यामा) मुझे क्यों चिढ़ाया करती है। शायद उन्हें दया हो आई हो !

पिताजी रोज रात में सोने के पहले रामायण पढ़वाकर सुनते थे, लेकिन आरम्भ की चौपाइयाँ स्वयं ही पढ़ा करते। दूसरे दिन का पाठ जहाँ से आरम्भ होता, वहाँ स्वयं अपने ही हाथों कोई चिह्न लगा देते थे।

बहुत ही सोच-विचार कर 'पार्वती हठ' की कुछ चौपाइयाँ लिखकर

अगले दिन खुलनेवाले पृष्ठ में रख दीं और दूर अँधेरे में छिपकर परिणाम देखती रही।

पिताजी ने लिखावट पढ़ी, घनी मूँछों में मुस्कराए और फाड़कर फेंक दी।

कई दिनों तक यही क्रम चलता रहा। अन्त में छोटे भाई ने रामायणपाठ के अन्त में एक पुर्जा उनके सामने बढ़ाया—'दीदी ने दिया है।'

रामायण की वही कुछ चौपाइयाँ, जिन्हें सती ने सप्तर्षियों को कहा था। दूसरे कमरे के अंधकार में खड़ी मेरी टाँगें बुरी तरह काँप रही थीं। पिता का कठोर स्वर गूँजा—'सुनती हो?'

माँ को बुलाया जा रहा है। मैंने कसकर किवाड़ पकड़ लिए। रक्तिम नेत्रों से माँ की ओर देखकर उन्होंने पुर्जा बढ़ा दिया—'देखो, लाड़ली के कारनामे! उस आवारे को छोड़कर कहीं ब्याहा तो प्राण दे देगी!'

फिर तो घंटों उनका क्रोध उफनता रहा—'अभी जिसके दूध के दाँत भी नहीं टूटे, उसकी यह हिम्मत? तुम्हींने शोख बनाया है उसे। कहो, जहर खाकर सो रहे। सिर पीट-पीटकर फोड़ ले, पर मैं वही करूँगा जो उसके हित का हो।'

मूर्छा की अवधि लंबी होती गई। ज्यों-ज्यों दवा की मर्ज बढ़ता गया। लाल गुलाब-सा मुँह सूखकर बासी चंपा हो गया! पर न तुम पसीजे, न पिताजी! पुरुषोत्तम, अंत में तुम भी ढीले पड़े, पर माँ-बाप का स्नेह ही फाँसी का फंदा हो गया! आह, बड़ी पीड़ा है। मैं तो अस्पताल में हूँ! नर्सें घाव की पट्टियाँ खोलने आई हैं। बाईं छाती के नीचे पेट के पास छुरे का गहरा घाव! आह, पुरुषोत्तम यही तुम्हारे प्रेम की परिणति है!

कहीं पुरुषोत्तम का नाम मुँह से निकल तो नहीं गया? मेरे इर्द-गिर्द डॉक्टर, नर्स, पुलिस अफसर और आत्मीयजन खड़े हैं। मुझसे पूछ-ताछ करेंगे। लेकिन आज भी मैं अपने होंठ सिए रहूँगी।

बूढ़े डॉक्टर माथा सहलाते हैं—'घबराओ नहीं, बेटी, जो कुछ हुआ,

धीरे-धीरे कह दो।'

—जो कुछ हुआ, वह तो सामने ही है, डॉक्टर। बड़ा दर्द है मुझे, बड़ा दर्द है। इस छुरे के घाव से भी तीखा दर्द मेरी छाती में है। जिसकी कोई परिभाषा नहीं, कोई उपचार नहीं। सचमुच मुझे एक बूंद जहर दे दें, डॉक्टर, अब सहा नहीं जाता।'

और सचमुच वर्षों की दबी रुलाई फूट पड़ी। सबकी आँखें नम हो आईं। पिताजी ने आँखों से रुमाल लगा रखा है। इसी तरह एक दिन और भी फूट-फूटकर रोई थी।

आई० सी० एस० परीक्षा के लिए विदेश जाने के पूर्व पुरुषोत्तम आए थे। बिहारी चाचा से जाने क्या सब बातें हुईं। फिर ऐसी ही भरी शाम में श्यामा मुट्ठी बांधे आई—'बोल, क्या 'काग या दोस' ?

—'तेरा सिर !'

—'बता भी, न बताएगी तो मिठाई खिला, तेरे मन की कहूं।'

मैंने मुक्का तानकर उसके सामने किया—'ले खा !'

—'हाँ, मुझे तो मुक्के खाने ही पड़ेंगे। तेरे चलते जो न हो ! चाचा ने अलग ताने, अब तू तान रही है।'

फिर हमारी सुलह हो गई। उसने बताया चाचा से उनकी बातें छिपकर उसने सुनी हैं। उन्हें दो वर्ष के बाद ही लौट आना है और तेरे भी सोलह लग जाएँगे ! ले, अब मंगल मना !

—बता, काग कि दोस ?—मैं सहसा ही श्यामा के चौंकने से घूम पड़ी—देखा, शीला भाभी खड़ी हँस रही हैं—श्यामा, तुम भी खूब हो, तुम्हें वांछा को बुलाने भेजा था न ? जा, चाचा बुला रहे हैं।

शीला भाभी ने कानों में होंठ लगाकर कहा था।

—'घबराना मत, दो साल कोई अधिक नहीं होते, मेरी कोयल !' श्यामा से ही मालूम हुआ, उन्होंने स्वयं ही ये संवाद भेजे हैं।

तब से श्यामा कोयल की बोली बोलकर चिढ़ाया करती। सखियाँ अँगूठे और तर्जनी को मिलाकर होंठ के दोनों ओर बर्छे की शक्ल बनाकर पुरुषोत्तम की नुकीली मूछों का संकेत करतीं तो मैं लाज से दुहरी हो जाती।

श्यामा कहा करती—'तुम्हारे ब्याह पर मैं तुम्हें तेज़ उस्तरा प्रेज़ेन्ट करूँगी !'

और शीला भाभी तो जाने कैसी-कैसी बातें किया करतीं।—वांछा, तू कल्पना करती रह—मूंछें हट जाने पर पुरुषोत्तम कैसे लगेंगे ?

पिताजी की मूंछों में दूध की उलझी बूंदें देखकर ही बहुत गुस्सा आता था !

—'देखिए, इस तरह आप उनकी भलाई नहीं कर रही हैं।' पुलिस इन्सपेक्टर बड़ी सहानुभूति से कहते हैं—'आपकी बात अन्तिम प्रमाणित होगी।'

मेरी आत्मा काँप उठती है ! चिन्मय की जलती आँखें, घृणा से टेढ़े हुए मुंह के कोण, सिर भिन्नानेवाली देशी ठर्रे की गंध और हाथ में चमकता छुरा। मुँह से दबी-सी चीख निकल जाती है। फिर संयत होते कहती हूँ—'वे अपने होश में नहीं थे और न मुझे कुछ याद आता है····'

—'मगर मैडम, अपराध को छिपानेवाली प्रवृत्ति स्वयं अपराध है। आपके लड़के की, महरी और अन्य पड़ोसियों की गवाही से तो यह उनका पहला प्रयास नहीं है। उन्होंने कई बार आपकी हत्या के प्रयत्न किए हैं।'

—'लेकिन जीकर ही मुझे क्या करना है डॉक्टर ? मैं मर जाती तो कितना अच्छा होता !'

—'माँ !' नन्हा विजय गले से लिपटकर पुकार उठता है—'कहो न माँ, पिताजी ने मुझे और तुम्हें बुरी तरह पीटा। जरा घूमो तो मैं तुम्हारे पीठ के निशान दिखा दूं ! तुमने रोकर जब उनके पांव पकड़ लिए और कहा कि मुझे छोड़ दो, मेरे बन्धन खोल दो, तभी उन्होंने तुम्हारे पेट में छुरा घुसेड़ दिया। बोलो, सच बोलो न माँ, अब हम लोग कभी उनके पास नहीं जाएँगे। वे सबको मार डालेंगे, माँ !'

जिस गूढ़ अभिमान को पिता के दीर्घ निश्वास और अनुनय ने ढीला नहीं किया था, उसे पुत्र के छलछलाए आँसुओं ने बहा दिया ! मैंने उन सबकी ओर मुखातिब होकर कहा—'विजय ठीक कहता है। मैं सहते-

सहते ऊब उठी थी, इसीसे उनसे बन्धन खोलने को मैंने प्रार्थना की थी !'

और फिर मूर्छा के कारण अगले दिन के लिए तहकीकात स्थगित कर दी गई।

सभी लोग चले गये हैं। फिर वही सूनापन है। आश्चर्य है, अपना विजय ही मुखबिर बना ? जिस पिता का रक्त उसकी शिराओं में है, वह असत्य हो उठा और मेरी यह तिर्यक्-साधना ऊपर हो उठी !

आह, पुरुषोत्तम, कितने रूपों से छल रहे हो ? तुम जन्म-जन्मान्तर से मुझ प्यासी को भुला रहे हो और मैं तुम्हारे ही पीछे भागती जा रही हूँ ! निष्ठुर, मैं तो युग-युग से तुम्हारे लिए रोया करती हूँ—त्रेता में गर्भभार से कातर सीता के वेश में, द्वापर में राधा बनकर, कलि के एक चरण में मीरा होकर और फिर इस वांछा के रूप में जन्म-जन्म की अतृप्ति, अधूरी कामनाएँ लेकर तुम्हें छूने आई तो पुरुषोत्तम बनकर तुमने ऐसा रुलाया कि सभी जन्मों की कठोरता पराजित हो रही।

नहीं, नहीं, तुमने नहीं। तुम तो आश्वासन देकर ही गए थे, मुझे ध्वस्त किया अपनों ने ही। वह सन्ध्या कितनी भयानक थी, जब मेरी खाट पर झुककर माँ रो रही थी—

—'वांछा को क्या हो गया, विमल ?'

पलकें उघाड़ते ही जो देखा—रोम-रोम काँप उठा, लाल आँखें, गले में रुद्राक्ष-माला, और लाल वस्त्र में लिपटा एक हिंसक-सा व्यक्ति ! घृणा से मुँह फेर लिया मैंने।

माँ ने अंधविश्वास और मूढ़ स्नेहवश पिताजी से छिपाकर पुत्री के उपचार के लिए कामरूप से आए अपने एक दूर के अघोरी जैसे रिश्ते-दार को बुलाया था।

निस्तब्ध रात में किसीकी काँटे-सी उँगलियाँ ललाट पर चुभीं और नींद खुल गई। पहचानने में देर न लगी कि उसी प्रेतसिद्ध से माँ मेरी फूँक करवा रही है।

उसे कहते सुना—'घबराओ मत चाची, मैं ऐसा बाण मारूँगा कि पुरुषोत्तम वहीं चित्त हो जाए !'

—'नहीं विमल, भूलकर भी ऐसा मत करना। मुझे सिर्फ वांछा

की जान चाहिए। उसने मेरा क्या बिगाड़ा है ? ऐसा हुआ तो सचमुच वांछा नहीं जिएगी।'

तभी एक विकृत हँसी कानों से टकराई—'देखना, कैसे नहीं जिएगी। उसके नाम से ही भागेगी।'

सुनकर उस जाड़े में भी पसीना आ गया मुझे।

दूसरे दिन रात में लाल-फूलों और हवन-सामग्री से घिरे उस कापालिक-से व्यक्ति के आगे जाते समय मेरे पाँव बुरी तरह काँप रहे थे।

वह आग में मुट्ठी भर-भर साकल डालकर कुछ अस्पष्ट-सा उच्चारण कर रहा था, जिसकी ध्वनि से भी भयानकता निकलती थी। उसने मुझे देखा और बुलाया—'आओ, वांछा, पहचाना नहीं, मैं विमल हूँ, तुम्हारा विमल भैया !'

तब मैंने कातर होकर उसके पाँव पकड़ लिए।

—'विमल भैया, बचपन में सबसे अधिक तुम्हीं मेरी ज़िद पूरी करते थे। तुम्हारे आसाम भागने पर मैं ही सबसे अधिक रोई थी। आज भी मेरी पत रख लो, विमल भैया, उनके लिए यह अभिचार मत करो।'

—'वांछा !' हँसी से फूले नथुनों और लोलुप आँखों को देखकर भी तब क्या मेरी बुद्धि मारी गई थी ?

उसने पूछा—'पुरुषोत्तम को पाना ही चाहती है ?' मैं निःशब्द रोती रही।

—अच्छा, मैं उल्टा आचार करूँगा। मगर तुम्हें यहीं बैठना पड़ेगा। खतरा तो है मेरी जान को, मगर तुम्हारे लिए वह भी हाज़िर है।'

तीसरे दिन उस हवन से जाने कैसी गंध उठ रही थी, जिससे उस प्रेम-बावली कुमारी को नींद आ गई और वहीं, मिट्टी पर ही गुड़ी-मुड़ी पड़ रही। नींद में ही उसे लगा था—कानों के पास किसीने आग रख दी हो !

चौंककर देखा—तांत्रिक—विमल भैया झुके हैं !

—'वांछा !' उन्मत्त-सी चेष्टाएँ कर रहे थे ! और वांछा क्षण-भर में ही बछिया से बाघिन हो उठी—

—'दूर हो, अभागे, अभी पिताजी से कहती हूँ ! नीच ! कुत्ते !'

—'बांछा ! मैं तांत्रिक हूँ ! हल्ला किया, तो नष्ट कर दूँगा तुझे !'

—'अभी तुझे सारी तंत्रविद्या बताती हूँ ! पिताजी ! पिताजी ! !'

सूनी रात में आवाज़ गूँज उठी। वह पाँवों पर लोट गया—'मुझे माफ कर दे बहन !'

लेकिन तीर तो छूट चुका था और पिताजी की खड़ाऊँ की आवाज़ सुनकर ही वह तांत्रिक अँधेरे में अन्तर्धान हो गया। फिर आज तक उसकी सूरत नहीं देखी। किन्तु उस तपते अंगारे की अनुभूति कुमारी के कुसुम-कोमल प्राणों पर गहरी होती गई।

घंटों रोया करती—क्या इस एक चुंबन के दाग से ही उसने पुरुषोत्तम को पाने का अधिकार नहीं खो दिया ?···सती ने सीता का वेश बनाया तो दूसरा जन्म लेना पड़ा। विवशता में रावण का स्पर्श होने से सीता को अग्नि-परीक्षा देकर भी निस्तार नहीं मिला, फिर यह बांछा किस अग्नि में जलकर उनके योग्य बन पाएगी ?

माता-पिता की सम्मिलित बातों का आशय पुरुषोत्तम की कुंडली के कमजोर ग्रहों की ओर था, जिससे घोर वैधव्य का निवारण कठिन था। और, जान-बूझकर 'बेटी' का ऐसा अहित वे कभी नहीं करेंगे।

फिर लम्बी बीमारी का क्रम चला।—'नहीं, नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता।' यह एक चीख बन गई जो जाने-अनजाने होंठों से छूट ही गिरती। प्रमाद के लक्षण दिखने लगे।

पिताजी का अश्रु-विगलित किन्तु कठोर स्वर माँ को लक्षित कर गूँजता—'इसीकी सारी आग लगाई है। बांछा को कुछ हुआ तो मैं घर में नहीं रहूँगा।'

वियोग के लम्बे-लम्बे दिन बीतते गये। पर, उस दाग का, उस दाह का कौन-सा निदान था ? घोर पश्चात्ताप और आत्मसंताप में मन ही नहीं, तन भी घुलने लगा। तभी बुद्ध के कुछ उपदेशों का संकलन हाथ लगा—'हे आनन्द, स्वेच्छा से किया गया पाप पाप है। अज्ञानता या विवशता से किया गया पाप पश्चात्ताप से धुल जाता है। मन की अग्नि में जलकर कठोर से कठोर पाप भी भस्म हो जाता है।'

मन की गाँठें खुलती गईं। 'पुरुषोत्तम, तुमसे बढ़कर मेरा निर्णय

कौन करेगा ? तुम जो दंड दोगे, झेल लूँगी ।'

सोचती हूँ, मानव-विकास में उच्च शिक्षा का बड़ा हाथ है । पिताजी ने क्रोध के पहले आवेग में ही पढ़ाई छुड़वाकर घर की कैद डाल दी, फिर उन्हें इस निश्चय से बिहारी चाचा जैसे तार्किक भी नहीं डिगा सके । श्यामा को कॉलिज जाते देख प्रेम के पहले आवेग में जो आन जन्मी थी, वह सफल हो जाती तो ज़िन्दगी की तस्वीर ही दूसरी होती ! कभी-कभी बिहारी चाचा श्यामा के कुन्द जहन पर क्षुब्ध होकर कहते—'काश, तू मेरी बेटी होती बांछा, फिर भारत को दूसरी सरोजिनी नायडू देता मैं ।'

तो, मुँह फेरकर अपनी नम आंखों को सुखाना पड़ता था मुझे । आज भी सोचती हूँ, शायद इन्हीं तत्त्वों की कमी से आज के इस प्रगतिशील युग में भी उन अंधपरंपरागत विश्वासों से छली गई, जिनका कोई मूल्य नहीं । लेकिन इन टूटे कगारों को फोड़कर कविता की जो अनन्त धारा प्रवहमान हुई, वही तो तुम्हारी स्नेह-धरोहर है, वही तो इस जीवन की, इस चिरन्तन दाह की कीमत है, पुरुषोत्तम !

आँसुओं से भीगे, वेदना से काँपते गीत मुझमें समा नहीं पाए । कोयल भी तो अपने को जब्त नहीं कर पाती है ! दाह की कोयल बनी मैं भी गाया करती हूँ । तुम्हारे अदृश्य चरणों पर मेरी पूजा के फूल हैं ये गीत । इनकी सुरभि भी कैद नहीं रह सकी, बिखर ही गई ।

कहते हैं, मृगनाभि की सुगन्ध ही मृग की मृत्यु का कारण बनती है और उसे ही प्राप्त करने के लिए वह वन-वन बौराया करता है । अपने ये ही गीत, आत्म-निवेदन के ये ही छन्द मेरे बंधन बन गए ! 'उल्का' से 'युगधारा' तक की अल्पावधि में ही इस सौरभ का प्रसार हो उठा ।

कई बार मुखपृष्ठ और प्रथम पंक्ति में कविताएं छपने पर अनेक प्रशंसकों के बधाई-पत्र भी मिले । मगर तुम तो सात समुद्र पार जा बैठे थे । तुम्हें क्या पता था कि कोयल के प्राणों में कितनी दाह उमड़ी है ? उन्हीं प्रशंसा-पत्रों के सिलसिले में एक ऐसे विलक्षण पत्र का उदय हुआ, जिसे टाल नहीं सकी । आज तक अपनी प्रशंसा ही सुनी थी, मगर उन पत्रों में मेरे छोटे-छोटे दोषों की खाल उधेड़ी जाती । उच्च शिक्षा

की कमी की ओर ऐसा स्पष्ट संकेत किया जाता कि मैं तिलमिला उठती।

वे उल्का के सह संपादक थे। श्यामा से इसकी चर्चा की तो वह आँखें फेरकर हँस दी। शीला भाभी ने बताया, वे श्यामा के भावी पति हैं। 'कवि चिन्मय' और श्यामा का साक्षात्कार कई बार हो चुका था। मगर ऐसी घाघ कि मुझसे भी एकदम छिपाए रही !

चाचा की कार से ही श्यामा रोज़ कॉलिज जाया करती और 'युगधारा' प्रेस की सामनेवाली दुकान से रोज़ ही कुछ न कुछ खरीदा करती।

चाचा जान-बूझकर ऐसा अवसर देते। शीला भाभी ने ही बताया—"कई बार जब कार खड़ी कर चाचा दूसरी दुकानों में चले जाते, कवि चिन्मय उस दुकान से स्टेशनरी का कोई सामान लेकर श्यामा की कार में डाल जाता—क्यों आज कुछ खरीदना नहीं है ?' शीला भाभी के सामने ही कई बार ऐसी धृष्टता कर गया था वह।

उसी धृष्ट कवि ने मेरी धज्जियाँ उड़ाने की सौगन्ध खा ली है। मैं स्वयं मौके की ताक में थी। तभी 'युगधारा' के मुखपृष्ठ पर एक कविता छपी—'अनागता के प्रति।'

आई न कभी नैनों में; बसी हृदय में, री !
बांधा न कभी बाँहों में; परस गई तन, री !—
तेरी श्वासों की मदिर-बास, कच-गंध प्रिये,—
मैं तृषित अधर के पात्र, तुम्हारी ओर किए !
दी कभी न चुम्बन घूँट, स्वाद भीना मन, री !
साधी रेखाएँ नहीं, गई रंग जीवन, री !

कवि चिन्मय से अपना साक्षात् नहीं था, लेकिन कविता की चौथी पंक्ति को लेकर एक बीभत्स-विरूप व्यंग्यचित्र बनाकर 'युगधारा' के पते पर ही 'नेक सलाह के कृतज्ञतास्वरूप' भेज दिया।

व्यंग्यचित्र शीला भाभी ने भी देखा था और हँसते-हँसते दुहरी होकर बोली थीं—'ठीक है, जब तक कविजी श्यामा बीबी के पास आएँगे, तुम्हारे चतुर्दिक् पुरुषोत्तम की सशक्त भुजाओं की लक्ष्मणरेखा खिंच जाएगी। कोई भय नहीं, भेज दो, सबक मिलेगा।'

लेकिन आठ दिन पूरा होते न होते एक मोटा-सा लिफाफा आया तो हमारे आश्चर्य की सीमा न रही। चित्रकला की बारीकियों पर प्रकाश डाला गया था। इतना ही नहीं, पत्र के साथ एक छोटे-से दूसरे बन्द पैकेट पर दो पंक्तियाँ लिखी थीं :

मैं तुम्हारी बेकली पहचानता हूँ,
हूँ स्वयं हाजिर, बना कार्टून लो।

अवश्य ही उसमें कोई चित्र रहा होगा। शीला भाभी भी स्तब्ध हो रहीं—'बड़ा घाघ है, सावधान बांछा।'

उसी रात कान्त भैया आए और बड़ी रात तक माँ और पिताजी से चिन्मय कवि के सम्बन्ध में बातें होती रहीं।

तो यही होगी अपनी साधना की परिणति ? 'कहाँ हो पुरुषोत्तम ? इस भँवर से उबार लो मुझे !' सारी रात आंसुओं में बहती रही।

फिर रस्साकसी आरंभ हुई। पिताजी अपने जानते अच्छे से अच्छा लड़का ढूंढ़ते, हर बार तिलक और आभूषणों की राशि बढ़ाते, गोया मुझे तुम्हारे बदले इन्हींका चाव हो ! साम, दाम, दंड और भेद की नीति व्यर्थ गई।

फिर एक दिन सुना—पुरुषोत्तम ने विलायत में ही ब्याह कर लिया !

शीला भाभी ने पूछा—'अब क्या होगा ?'

'होगा क्या ? मुझे उनपर पूर्ण विश्वास है।'

'बड़ी निष्ठा है बीबी ! कोई शक्ति तुम्हें बाधा नहीं दे सकेगी।'

मेरे मन में स्वयं ही एक गोपन गर्व छिपा था—'तुमसे मुझे कोई नहीं अलग कर सकता।' लेकिन निर्दय नियति दूर खड़ी हँस रही थी।

कवि चिन्मय की ओर आकृष्ट करने का प्रयास कान्त भैया ने जी-जान से किया। पहले वैर-विरोध करती रही, अन्त में ऊबकर निरपेक्ष हो गई। व्रत, उपासना और मौन सत्याग्रह में ही मैंने मन लगाया।

इसी बीच अनभ्र वज्राघात हुआ। सुना, चिन्मय कवि के पिता विक्रम रावजी स्वयं पिताजी के चेम्बर में आकर मिले और अपने पुत्र के लिए उनसे मुझे माँग लिया।

पिताजी स्वयं बड़े प्रफुल्ल नजर आते थे। जाने दो, जिन्दगी-भर

इस पगली का निर्णय नहीं हो पाता, भगवान ने स्वयं ही आकर राह दिखाई। माँ से उन्हें कहते मैंने स्वयं ही सुना। मुझे समझा-बुझाकर मना लेने का भार कान्त भैया ने लिया था। मुझे एक बार कुएँ में धकेले जाते समय उन्होंने बचाया था, इसी स्नेह-विश्वास के लाभ रूप में मुझे खाई में ठेल देने का, मेरे स्वप्न को पूरा बनने के पूर्व ही ढाह देने का बीड़ा उन्होंने उठाया।

मनुष्य जब छोटे-छोटे स्वार्थों की ओर झुकता है, तो संसार का बड़े से बड़ा अहित करने में भी नहीं हिचकता। कान्त भैया के आगे जीवन और जीविका का प्रश्न था। वांछा के पागलपन और माता-पिता की नाराजगी की बात परिवार का प्रत्येक व्यक्ति जान चुका था। जो कुछ कोर-कसर रही, श्यामा ने पूरी कर दी। चिन्मय कवि की ओर से मैं चाहे जितनी भी लापरवाह होऊँ, उसे यही भान होता रहा कि मैंने ही उसका मनचीता छीना है। किसे मालूम था, शतरंज की चाल में कितने खिलाड़ियों का दाव था।

कान्त भैया को लिखे गए चिन्मय के पत्र, जिनमें कोमल-कान्त पदावली में विरह का लक्ष्य होता, कभी-कभी अपने मन को भी डांवाडोल कर देते। सोचती—'किस आँधी में दौड़ी जा रही हूँ? क्यों न इसी छाया में बैठ रहूँ?' मगर मेरे मन में विराम कहाँ था? मेरी मंजिल जो निश्चय ही मेरे मतिभ्रम से अस्पष्ट हो गई थी, बुरी तरह कौंचे दे रही थी मुझे।

पुरुषोत्तम! ओ मेरे अन्तर्यामी! स्वयं मेरा मन भी इस कंचनमृग के पीछे लुब्ध होने लगा था। कभी-कभी शंका होती—कहीं सचमुच ही 'वेनिस की सुन्दरी' ले आओगे तो कहाँ यह 'मान' रहेगा? कैसे सहन कर सकूँगी वह दुःख?

इस विपत्ति में मात्र शीला भाभी मेरी संगिनी थीं। वह तुम्हारा नाम ले-लेकर हमेशा ही मुझे चिढ़ाया करतीं। और तुम्हें क्या बताऊँ निर्मम, किसी कुमारी को किसीका नाम लेकर चिढ़ाना ही उद्दीपन बन जाता है!

इतना ही नहीं, उन्होंने माँ और पिताजी को भी समझाया और

बात यहाँ आकर तै पा गई, तुम्हारे विलायत से आने की निर्धारित अवधि तक तो ब्याह रोका ही जाएगा; तुम आकर जब स्वयं प्रार्थित होओगे, विक्रम राव की माँग भी वह ठुकरा देंगे।

दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ चुका था। सभी कहा करते—'अब पुरुषोत्तम का लौटना असम्भव है।'

आशा-निराशा के बीच टँगे मेरा बुरा हाल था। इन्हीं दिनों मौसी प्रयाग से आयीं और पिताजी को कह-सुनकर मुझे अपने साथ ले गईं।

मौसी स्वयं अपने में अनगढ़ पत्थर, रूक्ष और कठोर भले ही रही हों, मगर उनकी नव विवाहिता पतोहू ने गाड़ी से उतरते ही मुझे अपनी बाँहों में बाँध लिया—'अरे, यह तो एकदम बच्ची है! मैंने समझा था पूरी जवान हो बीबी! बड़ी इच्छा थी तुमसे मिलने की।'

इस कटाक्ष का मर्म मैं समझती थी, पर भाभी का व्यवहार इतना मृदु रहा कि कभी मुझे दुराव का बोध नहीं हुआ। साथ ही दो साल से अवरुद्ध अध्ययन का मेरा क्रम भी पूरा हो गया।

अब मैं स्वयं कॉलिज की छात्रा थी। पुरुषोत्तम, अब मुझमें कोई कमी नहीं पाओगे। निराशा से आशा, मृत्यु से जीवन और अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का संकेत मुझे रीता भाभी के संपर्क में मिला।

मैं मनोयोग से क्लास करती। तन्मयता से वीणा के तारों पर कंठ का स्वर साधती। व्याकुल होकर कविता रचती और पुलकित होकर घर-गिरस्ती के काम आनेवाली ढेरों सामान—रुमाल, टीकोजी, पर्दे, चादर, गिलाफ, मेजपोश और तकिया के गिलाफ काढ़ती। एक दिन इसी तरह कितनी शैतानी कर बैठी थी! सूने में भी ओठों पर हँसी आ जाती। प्रत्येक फूल-पत्ते के बीच, या जालियों में ही छिपा हुआ तुम्हारा नाम होता। पुरुषोत्तम! कितने नमूनों में भाभी से भी छुपाकर वांछा-पुरुषोत्तम, एक साथ ही काढ़े थे मैंने। वे कुछ दिन जीवन के जलते मरु में आनन्द और आशा के स्रोत हैं पुरुषोत्तम! तुम्हें उनकी कीमत क्या मालूम? गाँव में व्यंग्य-बाणों से छलनी बनी छाती पर रीता भाभी ने बड़े स्नेह-कौशल से अनुलेपन किया।

उन्होंने मेरी पीड़ा को गौण कर, मेरी छोटी उम्र के लिहाज से

मुझे खेलने-खाने को उत्साहित किया।

स्वयं अपनी बहनों के परिहास से मुझे उन्होंने बचाया—'छिः, इस नन्ही-सी बच्ची से मज़ाक करते शरम नहीं आती ?'

स्वयं मौसी मुझे रहस्यमयी कहा करतीं, पर भाभी के अजस्र स्नेह, अगाध ममता और स्वच्छन्द वातावरण ने मुझे सचमुच छोटी-सी बच्ची बन जाने को विवश कर दिया। मैं भूलने लगी कि इस छाती में कहीं दरार भी है। किन्तु रात में जब सब कुछ शान्त हो जाता तो तुम्हारी याद विकल करने लगती।

यहीं आने पर अचानक रीता भाभी से मालूम हुआ, चिन्मय का घर यहीं है और उनके साथ दूर की रिश्तेदारी होती है उसकी। कान्त भैया से मेरे और चिन्मय के सम्बन्ध की बातें सुनकर ही विद्रूप से उनके होंठ सिकुड़ गये और यह सुनकर कि चिन्मय कवि मुझपर सौ-सौ जान लट्टू है, भाभी ने जाने किस कौशल से उसके कमरे में प्रवेश कर, उसकी बड़ी-सी डायरी उठा ली और मुझे दिखाया—'देखो वांछा, कितने घोर पापों में वह डूबा है। ऐसे आदमी के साथ कभी निभा सकोगी ?'

मुझे लगा मैं आग में जाते-जाते बच गई। स्वर्णमृग में छिपे मारीच का परिचय मिल जाने पर आँखों पर से एक बड़ी भ्रम-कुहेलिका दूर हो चुकी थी। लगा, जैसे मैं एकाएक होश में आ गई हूँ। मेरे प्राण मुक्त हो चुके हैं। मेरी पहली चुहलबाजी लौट आई थी। पहले की तरह मेरी मुक्त हंसी का द्वार खुल गया था।

शैलेश रीता भाभी का बड़ा लाड़ला भाई था। देहरादून मिलिटरी कॉलिज की अंतिम डिग्री लेकर घर आया तो भाभी से मिलने प्रयाग भी आया।

मैंने लक्षित किया, मैं मशीन पर होती, या तानपूरे पर रियाज़ कर रही होती अथवा किसी और शगल में मशगूल होती तो शैलेश की आँखें मेरा पीछा करतीं। मैं बहुत बाद में यह जान पाई।

यों भाभी का भाई होने के नाते, कभी-कभी उन्हें बनाने से भी नहीं चूकती थी। कई महीने बीत गए, सुना नौकरी मिल जाने पर भी शैलेश जाना नहीं चाहते।

रीता भाभी ने जाने क्या सोचकर एक दिन मुझसे कहा—'वांछा, शैलेश की चुटकी तुम्हीं लेती हो, उसे मीठा-मीठा सुनाओ कि वह काम पर जाए। और देखो, मैं तुम्हारे भैया के साथ डॉक्टर सेन के यहां से मुन्ने को दिखला लाती हूँ। हम एक घंटे में ही लौट आएँगे। यदि देर हुई और शैलेश भी आ जाए तो चाय पीना। उसे भागने मत देना।'

राम जाने, किस प्रेरणा से मेरे मुँह से निकला—'नहीं, आप इतमीनान रखें, मैं उसीसे (झूले की मोटी रस्सी से) उन्हें बांध रखूँगी।'

'शाबाश !' कहकर भाभी धड़धड़ाती हुई सीढ़ियाँ उतर गईं और भैया को अकारण ही खाँसी आ गई थी।

उसी सन्ध्या शैलेश से यह पूछने पर कि आप वापस कब जा रहे हैं, उन्होंने अजीब हँसी हँस दी—'मैं कैसे बताऊँ ?'

—'वाह जी, जाना है आपको तो बताएगा कौन ?'

—'तुम्हीं बताओ ना ?'

एकाएक ही वह आप से तुम पर उतर आये।

—'तो अभी जाइये !' मैंने भागते हुए साहस को समेटकर कहा।

—'अकेला नहीं जी सकूँगा, वांछा, तुम्हारी राह देख रहा हूँ। मुझे 'हां' कह दो मेरी वांछा !'

और जाने किस पागलपन से उन्होंने मेरे हाथ पकड़ लिए।

—'शैलेश बाबू, घर में कोई नहीं है, इसका फायदा उठाते हैं ? मुझे समझ क्या रखा है ?'

मैं कोने में खड़ी हाँफने लगी। आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें आँखों से चूकर हाथ और फिर आंचल में समाने लगीं।

—'वांछा, मुझे गलत समझ रही हो। मैं उतना नीच नहीं हूँ। मैं तुमसे प्रेम करता हूँ वांछा, जिसकी स्वीकृति तुमने मेरे आते-आते ही दी है !'

—'मैंने आपको स्वीकृति दी है ? इतने झूठे हैं शैलेश बाबू !' शायद मेरी चीख सुनकर ही छोटा नौकर चाय जूठे बर्तन लेने आ गया।

—'शान्ति से बैठो, वांछा, नौकरों के सामने तमाशा मत करो।' शैलेश ने अपने आगमन की प्रथम सन्ध्या की याद दिलाई, जब देहरादून से लाई चीजों में से सबके लिए सब कुछ बाँटकर बड़े नाटकीय ढंग से बोला था— 'मुझे मालूम नहीं था, 'मलकए आलम' यहीं हैं, वरना सबसे अच्छा तोहफा लाता ! फिर भी देखूं कुछ फूल-पत्र··· 'और एक बड़ा ही सुन्दर ताजे लाल गुलाबों का गुलदस्ता मेरी ओर बढ़ाया—'संस्कृत तो आती नहीं देवी, मगर अग्रजा की परमादरणीया को यह अकिंचन भेंट स्वीकार हो।' गुलाब के फूलों का लोभ तब भी इसी तरह था, मैंने झट गुलदस्ता लेकर सूँघ लिया। भैया को तब भी बड़ी ज़ोर की खाँसी आई थी। वहाँ जितने लोग थे, सभी धीरे-धीरे खिसक गये।

शैलेश ने आँखों से मुझे पीते हुए पूछा था—'तो मेरी भेंट पसंद आई आपको ?'

मेरा ध्यान फूलों की ओर था। बीच का सबसे बड़ा लाल गुलाब अपरूप था उन सबों में। मैंने बिना सिर उठाए ही कहा था—'खूब, खूब पसन्द आयी। इतने सुन्दर फूलों के लिए आपको बहुत धन्यवाद है।'

शैलेश ने उन सारी बातों को दुहराते हुए कहा—'तभी तुमने ना क्यों नहीं कहा था ? सबके सामने मेरा प्रेम-निवेदन कबूल कर लिया है, अब भागती क्यों हो ?'

मेरे कंठ में रेत उड़ रहे थे। किसी तरह थूक निगलकर कहा —'आपने कहा क्यों नहीं कि इसीलिए फूल दे रहे हैं ?'

बहुत ज़ोर से हँसा था शैलेश—'वांछा, सच तुम इतना भी नहीं जानती हो कि किसी कुमार से कुमारी का लाल गुलाब लेना प्रेम की स्वीकृति है ?'

—'नहीं, ऐसी वाहियात बातें जानने की ज़रूरत नहीं मुझे।'

—'वांछा, मैं अपनी जान दे दूंगा।'

लेकिन पाँव नहीं रुके। शिव-पार्वती की तस्वीर में लगा हुआ वह सूखा गुलदस्ता लाकर उसके मुँह पर दे मारा—'लो, अपना प्रेम वापस लो। मुझसे प्रेम करनेवाला तुमसे लाख दर्जे अच्छा है ! काश, वह यहाँ होता !···'

अनायास ही तुम्हारी याद मुझे कातर कर गई पुरुषोत्तम ! सूखे फूल झरकर बिखर गए। भारी कदमों से शैलेश उठा और जाते-जाते शाप दे गया—'पाषाणी, जिसके लिए विसूरती है, कभी तुझे प्राप्त नहीं होगा।'

शाप ! यह निराधार शाप सन्ध्या के नीरव अंधकार में मँडराता रहा। रात भीगने पर भाभी आयीं और बड़ी गंभीर, तीक्ष्ण दृष्टि से मुझे घूरती रहीं।

शैलेश दारागंजवाले अपने चाचा के यहाँ उसी रात चला गया। उसकी एकाएक की बीमारी से सभी व्यस्त-त्रस्त हो उठे। भाभी जब भी दारागंज जातीं, मुझे साथ ले जातीं। तिमंज़िले पर के कमरे से उसकी चीखें दूसरी मंजिल तक साफ सुनी जातीं। मेरे प्राण मुंह को आते, कई बार इच्छा होती, शैलेश को अपनी विवशता कह डालूं, मगर तिमंज़िले पर जाने की हिम्मत नहीं होती---मुझे शैलेश की आँखों से जाने कैसा भय लगता। उस दिन भी सीढ़ियाँ चढ़कर नीचे लौट आई और सूने ड्राइंग रूम में पुराने साप्ताहिक, मासिक पत्रों को उलटने लगी।

एकाएक मुझे लगा, इस अंधकार-गुहा में मुझे प्रकाश की नई किरणें मिल गईं। मेरी कारा के द्वार मुक्त हो गए ! मेरे सूने जीवन पर सौ-सौ सूर्य खिल उठे !

ओ पुरुषोत्तम ! 'शक्ति' के दो माह पूर्व के अंक में तुम्हारी तस्वीर छपी थी ! तुम्हारे विदेश से लौटकर आने का संवाद प्रकाशित हुआ था और सुख की तरंगों से हिलोर लेता समुद्र मेरे सामने लहरा रहा था।

मुझे मेरी मंज़िल मिल गई। तुम विदेश से आई० सी० एस० की उपाधि प्राप्त कर लौट आए। अब मुझे निश्चय ही अपना लोगे। भाड़ में जाए शैलेश और जहन्नुम में जाए चिन्मय ! तुम जब स्वयं पिताजी से अपनी धरोहर मांगोगे, फिर कौन तुम्हें रोक सकेगा ?

—'बांछाजी !' देखा, सामने भाभी की भाभी खड़ी मुस्करा रही हैं !

'रीता बीबी नीचे गाड़ी में प्रतीक्षा कर रही हैं, आप किसका ध्यान

कर रही हैं ?'

शक्ति का वह अंक अपने साथ ही लेकर आई और सारी रात सपने देखती रही।—आश्चर्य तो यही होता है, उस दिन रात-भर नींद भी नहीं आई थी !

—'क्या कर रही है वांछा ?'

सहसा अपने पीछे खड़े कान्त भैया की पुकार सुनकर चौंक उठी। सामने तुम्हारी वही धुँधली-धुँधली-सी तस्वीर खुली पड़ी थी। मैंने शक्ति का अंक मोड़कर उन्हें दिया और जहां लाज आनी थी, झरझराकर आँसू चू पड़े।

कान्त भैया जाने क्यों खिलखिलाकर हँस पड़े—'तो अब तक तुम्हारा पागलपन नहीं मिटा ? वह तो मेम ले आया है !'

'यहाँ पढ़ो'—मैंने जलती आँखों से उन्हें देखकर उस पंक्ति पर उँगली रोप दी, जहाँ लिखा था—'अब आप यथाशीघ्र ब्याह करेंगे।'

—'अच्छा !' कान्त भैया जाने क्यों एकाएक उठकर चले गए। कई दिनों तक फिर उनके दर्शन नहीं हुए। मैंने शक्ति के संपादक को पत्र लिखकर तुम्हारा पता पूछा—सिर्फ इतना ही पता चला—तुम रामगढ़ काँग्रेस गए हो।

मुझे मालूम था, कांग्रेस का प्रत्येक अधिवेशन, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की हरेक सभा में तुम बिना नागा जाया करते हो। यह तुम्हारी हॉबी थी, लेकिन यही 'हॉबी' मेरे ऊपर वज्र बनकर गिरेगी, ऐसा नहीं जानती थी, पुरुषोत्तम ! पाषाण के आयुध भी तो वैसे ही रहेंगे !

सारी लाज-शरम को तिलांजलि देकर, कई रातें जगकर मैंने अपने मुकदमे का मसविदा तैयार किया—नये न्यायपति के न्यायालय में जो देना था ! कितने आँसुओं को मथकर, कितने भावों में से चुनकर और कितने पन्नों को फाड़कर संक्षिप्त किन्तु, करुणा-कातर और स्पष्ट शब्दों में तुमसे चुटकी-भर सिन्दूर की भिक्षा माँगी। आह, आज भी वे शब्द छाती पर हथौड़े की चोट करते हैं !

मैंने स्पष्ट लिखा था—'मात्र अपनी बना लो, फिर चाहे जो भी सजा दोगे, प्रतिवाद नहीं करूँगी। चाहे दूसरा ब्याह कर लेना, मैं तुम्हारे बच्चों की आया बनकर तुम्हें भर आँखों देखकर ही जी लूँगी।' तांत्रिक विमल, शैलेश और चिन्मय कवि की बातें भी नहीं छिपाई मैंने !

लेकिन पत्र पूरा कर लेने के बाद मुझे लगा, पत्र लिख लेना जितना आसान है, भेजना और उनके हाथों तक पहुँचाना उतना ही कठिन है।

उस दिन भी भाभी और भैया कहीं पार्टी में गए थे। ड्राइंग रूम में अकेली बैठी जाने किन सपनों में खोई थी। बल्ब के चारों ओर चक्कर काटते पतंगों को देखकर जाने क्या सोच रही थी मैं। भीतर मौसी रसोइया-महाराज पर बकबक कर रही थीं। सहसा किसीके खाँसने की आवाज़ सुनकर चौंकी, देखा अपनी छत से दिखनेवाला आँगन जिन मराठी सज्जन का था, वे ही खड़े हैं।

—'आप शायद डॉक्टर साहब की बहन हैं ?'

—'जी हाँ, कहिए क्या सेवा की जाए आपकी ?'

—'मेरी पत्नी की हालत एकाएक नाज़ुक हो गई है। रात तक उनकी दवा से ठीक थी।'

—'भैया तो सुबह ही गए हैं, रात में शायद ही लौटें।'

—'क्या कहा, नहीं लौटेंगें ?' और बिना कुछ कहे-सुने ही वे 'धम्' से कोच में धँस गए। निश्चय ही उन्हें बड़ी निराशा हुई।

—'आप किसी दूसरे डॉक्टर से दिखलाइए। डॉक्टर सरकार को बुलाइये...'

—'मगर बहन, मैं तो एकदम अकेला हूँ। बेहोश पत्नी को किस पर छोड़ूँ ?' क्षण-भर मैं पशोपेश में रही। निदान सूझते ही कहा—'अच्छा, ज़रा ठहरें।'

भीतर जाकर मौसी से सारी बातें कहीं। व्यवहार से कठोर और रूक्ष होते हुए भी उनका हृदय बड़ा कोमल था। बोलीं—'कहो, हम आ रहे हैं।'

पति मराठी और पत्नी उड़िया ब्राह्मण। नाम कुछ और ही रहा होगा, पर विख्यात थीं 'पुरबी' के नाम से।

भैया की दवा, मौसी का पड़ोसी-धर्म और मेरी परिचर्या से पुरबी भाभी को नया जीवन मिला। वे मक्खन-मिश्री की तरह हमारे परिवार में घुल-मिल गईं।

बड़ी मधुर भाषिणी, बड़ी सतर्क और मर्म तक पैठनेवाली दृष्टि की थीं पुरबी भाभी। तीसरे दिन ही मेरा सारा राज मुझे विश्वस्त बनाकर जान लिया, जिसे छः माह के साहचर्य से रीता भाभी ने भी नहीं जाना था।

उनसे ही पता चला उनके पति के० सुन्दरम् शक्ति के सह संपादक हैं और जो उत्तर दिया था, उन्होंने ही। अविश्वास की गुंजाइश नहीं थी; शक्ति-संपादक के नाम लिखा मेरा पत्र उनके पास ही था। अपना प्रेम-विवाह उन लोगों ने बड़ी-बड़ी विघ्न-बाधाओं के बाद किया था। व्रती थे कि यथाशक्ति दो बिछुड़े प्रेमियों को मिलाएँगे। पुरबी भाभी से मैंने विगत और वर्तमान की सारी बातें कह दीं।

—'बस, इतनी-सी ही बात के लिए रोती हो? तुम्हारा सुन्दरम् भाई तो प्रेस-रिपोर्टर होकर रामगढ़ जाएँगे ही, पुरुषोत्तम को ढूँढ़कर तुम्हारा प्रेम-संवाद दे देगें। पत्र लिखो तुम!'

पुरबी भाभी स्वयं बहुत अच्छा चित्र बनाती थीं। बड़ी मँजी उँगली थीं उनकी। उन्होंने फूल-भरी अंजली लिए एक विनत नारी का बड़ा ही कलात्मक चित्र पेंट किया और उसके नीचे ख्यात कवयित्री सुभद्राजी की पंक्तियाँ मुझसे लिखवाईं—चरणों पर अर्पित है इसको

चाहो तो स्वीकार करो,
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है,
ठुकरा दो या प्यार करो।'

उनकी राय में सिर्फ इतना ही पर्याप्त था। लेकिन मेरी आस्था थी कि मेरे सारे दोष-गुणों का तुम विश्लेषण करो। अन्त में तय हुआ कि पहले पत्र का फिर से संक्षेपण किया जाए।

सारी दोपहर बैठकर फिर संशोधित मसविदा बनाया और सुन्दरम् भाई को जाते समय उन्होंने मेरे सामने ही बार-बार समझाया—पहले कार्ड, जिसपर तस्वीर बनी है, तुम्हें देकर तुम्हारी उत्सुकता देखी जाए;

और फिर मेरी ओर से वकालत करते हुए बन्द लिफाफा तुम्हें सौंपा जाए।

आज भी मुझे याद है पुरुषोत्तम, वह फरवरी की तेरहवीं तारीख थी।

सुन्दरम् भाई के लौटने तक के दिन जिस बेचैनी में मैंने बिताए वह शब्दातीत हैं। अखबारों में पढ़ा करती, रामगढ़ में घोर वर्षा और ओलों के कारण अधिवेशन को बहुत क्षति हुई। लोगों को इतने कष्ट हुए जिनका वर्णन नहीं हो सकता। प्राणों में अकथ पीड़ा होती। रात में अपना सूखा बिछावन छूकर लगता, जाने तुम कहाँ, किस अवस्था में होगे!

पत्र पढ़कर तुमने क्या निर्णय किया, इस आशंका से मैं अधमरी हो गई। मन को लाख-लाख समझाती, लगता कोई धीरज की बाग खोल ले गया है। जाने कौन कानों में बार-बार कह जाता—'अब तुमसे भेंट नहीं होगी, पुरुषोत्तम!' कहीं तुमने गलत समझा? तुम्हें खोकर जी कैसे पाऊँगी? कभी कल्पना नहीं कर सकती थी।

छठे दिन रात में छत के सूने अँधेरे कोने से जहाँ से पुरबी भाभी का घर का हिस्सा दीखता—मैंने सुन्दरम् भाई को देखा।

दूसरे दिन सवेरे ही गोद में मुन्ना को लेकर जा धमकी। सुन्दरम् भाई बाहर जा रहे थे, उन्होंने ही द्वार खोला और मुझसे झेंपे हुए जन-समूह में खो गए। भीतर जाकर देखा—पूरबी भाभी का मुँह उतरा हुआ है। और आँखें सूजी हैं।

मेरी आँखों में जैसे अंधकार छाने लगा। किसी प्रकार पूछ सकी—'आज भाई बहुत सवेरे इस तरह लम्बे-लम्बे डग बढ़ाते कहाँ चले गये?'

भाभी ने मुझे छाती से लगाकर अपनी छलछलाई आँखें मेरी आँखों में डाल दीं—'सह सकोगी वांछा? भाभी वज्र से भी कठोर कुछ कहेगी!'

मैंने अपने को किसी प्रकार सँभाल लिया।

—'तुमने पत्थर से प्रीत की वांछा। वह नया विलायती साहब बना है। तुम्हें क्या 'वर' नहीं मिलेंगे? मेरी मानो, अभी तुम इन सारे पचड़ों को छोड़कर अपनी पढ़ाई पर झुको, अधूरी संगीत-साधना पूरी

करो। तुम्हारी उम्र ही क्या है पगली ? हिम्मत से काम लो, चिन्मय के संग ब्याह का खुला विरोध कर दो। समाज में कहीं कोई तुम्हारा साथ न दे, किन्तु मैं तो तुम्हारे साथ हूँ।'

मैं मतिशून्य होती गई। भाभी कहती गईं—'उसने कार्ड देखकर ठहाका लगाया—अच्छा ! और खत पढ़ने के बाद तो बारूद बन गया ! बोला—ये मायाविनी छोकरियाँ जाने अपने को क्या समझती हैं। इतनी साफगोई यदि अपने पति से रख सकतीं तो कितने धोखे से बचते !···मुझसे भी अधिक पैसेवाले फंस सकते हैं।'

तुम्हारे भाई ने कुछ कहना चाहा, तो पत्र मसलकर फेंक दिया---'अब आप अपनी दलाली मत दिखाइए, मिस्टर ! कह देना, पता मुझे याद रहेगा, जब आया की ज़रूरत होगी, खबर भेज दी जाएगी।'

बहुत कह-सुनकर सुन्दरम् उसे दोनों चीजें सौंप आए हैं।

मेरे पाँव के नीचे से जाने धरती कब खिसक चुकी थी। जगने पर देखा, पुरबी भाभी की जांघ पर मेरा सिर था।

बड़े कष्ट से घर तक आ पाई और फिर रोज ही बेहोशी के दौरे आने लगे। भैया स्वयं डॉक्टर थे पर मेरे रोग का निदान कर नहीं सके। पिताजी को पत्र लिखा गया—जल्द से जल्द मेरा ब्याह कर दिया जाए, मुझे हिस्टीरिया के दौरे आ रहे हैं।

हाय, मैंने सचमुच पत्थर से प्रीत की। पहले ही सुन चुकी थी, तुम केवल लड़कियों से परिचय पाकर अपना मन बहलाते हो। तुम्हारे विदेश जाने के पूर्व ही तुम्हारी अनेक प्रेम-कथाओं की चर्चा सुनी थी मैंने, फिर मुझे आश्वासन क्यों दिया था ? इतना रस-मधु पीकर सिर्फ एक चुम्बन का दाग़ नहीं सह सके, पुरुषोत्तम ? वह बलि भी तो तुम्हारे ही लिए हुई थी ? तुमने विदेशों में चुम्बन के अनेक उपयोग देखे, वहाँ की सारी नकल की, मगर वह दृष्टि-विस्तार नहीं पाया ? अब जीने से क्या लाभ होगा ?

कई दिन बाद ही कोई पर्व था और सारा परिवार लेकर मौसी गंगा-स्नान को गई थीं। शैलेश तब तक संयत हो चुका था। उसका शाप मुझे लगते ही उसे चेत हो उठा शायद। स्नानार्थियों में वह भी था।

तैरने के बहाने अथाह् जल में जाकर मैंने डुबकी मारी—'माँ, गंगा मुझे शरण दे दो।'

पानी में एक-दो बार ऊपर-नीचे आई और मौसी की चीख भी सुनी। वहाँ भी नियति शैलेश के रूप में खड़ी थी। मेरे लम्बे केशों को बुरी तरह झंझोड़ा था उसने किनारे लाकर, मौसी जहाँ हाय-हाय कर रही थीं, मुझे बुरी तरह धकेल दिया कि आंसू आ गए।

किनारे पर आकर जब कपड़े बदलकर बैठी, थरमस से गर्म चाय निकालकर देते समय कठोर दृष्टि से मुझे घूरते हुए उसने मुझसे पूछा था—'जान-बूझकर ही यह किया था ?' मैं चुपचाप सिर झुकाए बैठी रही। उसने फिर पूछा—'हूँ, तो इस निराशा का कारण क्या है ?'

और मेरे निःशब्द रहने पर नाव का चप्पू चलाते हुए उसने भाभी से पूछा था—'तुम्हारी इस पत्थर की मूरत-सी ननद को यदि यहीं विसर्जित कर चलें तो कैसा रहे, रीता दीदी ?'

अनायास ही मेरे होंठ फैले—कंठ से जो स्वर उमड़ा होठों तक आते-आते जाने क्यों नहीं निकल पाए—कहना चाहती थी—'बड़ी दया होगी।'

फिर स्वयं ही बोल उठा—'फिर तो बेचारे कवि के आँसुओं की ऐसी बाढ़ आएगी कि हम सभी, यह सारा संसार ही बह जाएगा !'

मैंने देखा, पानी को बड़ी बेरहमी से काट रहा था शैलेश जैसे किसी प्रतिद्वन्द्वी को पीटा जाता है !

घर आकर देखा, कान्त भैया प्रतीक्षा कर रहे हैं। रीता भाभी ने मेरी संतरण-कला की खूब खिल्ली उड़ाई। शैलेश की प्रशंसा के नये स्रोत जैसे खुल गए।

एकान्त देखकर मैंने कान्त भैया से कहा—'मेरी आत्मा कहती है, चिन्मय के साथ मैं कभी सुखी नहीं हूंगी भैया, मुझे उस नरक में मत धकेलो।

—'वांछा,' उन्होंने बड़े प्यार से मेरा सिर सहलाया—'तू यदि सुखी नहीं हुई तो संसार की कोई दम्पति सुखी नहीं होगा।'

मैं निःशब्द रोती रही और वे चिन्मय के गुणों की प्रशंसा रोम-रोम से करते गए, उनके अन्तिम शब्द थे, 'वह राष्ट्र का एक उदीयमान नक्षत्र है। देखती नहीं, उसके स्वर में कितनी आग है। कितना तेजस्वी है वह, जीवित रहा और भारत स्वतंत्र हो सका तो राष्ट्रकवि का सेहरा उसे ही मिलेगा। तुम्हें प्राप्त नहीं कर पाने से उसे जो धक्का लगेगा, वह हानि व्यक्ति की नहीं, देश की होगी। क्या एक उगते नक्षत्र के लिए तू इतनी-सी बलि भी नहीं दे सकती ?'

लगता था आज पूरी तरह कमर कसकर ही कान्त भैया आए हैं—चार-पाँच पत्रिकाएँ निकालकर मेरे सामने रख दीं—'देख वांछा, इनमें राष्ट्र-प्रेम, बंदिनी भारतमाता की मुक्ति के लिए कितनी उग्र पंक्तियाँ जड़ी हैं !'

तभी मैंने चिन्मय के कमरे से रीता भाभी द्वारा लाई गई डायरियों को उनके सामने लाकर पटक दिया—'फिर यह क्या है ? बता सकते हो भैया ?'

लगा जैसे किसीने हठात् उन्हें बर्फ में डुबो दिया हो। मैं चुपचाप उस मुँह का चढ़ाव-उतराव देख रही थी। मगर आज समझती हूँ, कान्त भैया आसानी से पकड़ में आनेवाले नहीं थे !

सूखी-सी हँसी हँसकर बोले—'इसीमें भूल गई ? पगली, यह तो मैं कई बार पढ़ चुका हूं। वास्तव में यह अधूरे उपन्यास का प्लॉट है। तभी बेचारा खोजते-खोजते परेशान हो रहा था। कथा का क्रम भंग हो जाने से बहुत दुःखी हो गया है। दिल्ली के एक प्रकाशक ने ......'

रीता भाभी की आहट सुनाई पड़ी। मेरी घबराहट में ही कान्त भैया उन्हें समेट ले गए। और उस दिन से फिर महीनों तक उनकी झलक नहीं मिली।

पूरवी भाभी को इस व्यथा की गहराई मालूम थी। उनका एक ही नारा था—'वांछा, हिम्मत करो ! चिन्मय से बचो वांछा ! अपने पिताजी से खुलकर इन चालबाजियों का राज खोल दो !'

'ओह, पिताजी ! अंगारों की सी उनकी वे आँखें ! अब तो पुरुषोत्तम ने भी ठुकरा दिया; अब किसके बल पर विरोध करूँ ?'

—'शैलेश के विषय में क्या सोचती हो ?'

—'नहीं, भाभी, नहीं, मैं शैलेश को नहीं सह सकती। उसकी दृष्टि बड़ी क्रूर है भाभी।'

—'मगर इस क्रूरता की तह में झाँका है, वांछा ?' मैं कुछ कहने को हुई तभी कान्त भैया सीढ़ियाँ धड़धड़ाते ऊपर चढ़ आए।

अस्त-व्यस्त कपड़े, गंदे बाल, यात्रा से थका मुंह और परेशान से।

पुरबी भाभी उठकर चली गईं।

—'वांछा !' उनका स्वर अपेक्षाकृत गंभीर था।

—'कहीं बाहर गए थे ?'

—'हाँ, सीधे स्टेशन से आ रहा हूँ।'

—'ठहरो मैं बाथरूम में कपड़े रखवा दूँ।'

उन्होंने हाथ हिलाकर मना किया—'नहीं, बैठ तू।'

मेरी छाती धड़क रही थी, जाने क्या बात है।

—'वांछा, मैं पुरुषोत्तम के घर गया था। जानती है, उसने तुझे बुरी तरह धोखा दिया था, विदेश जाने के पूर्व ही जिस लड़की के बाप ने दस हजार रुपये दिए थे, उसीसे ब्याह ठीक हुआ है। सगाई हो चुकी।'

—'सगाई तो मुझसे भी हो चुकी है !'

—'मगर चाचा ने दसहज़ारी सील-मुहर तो नहीं लगाई थी। पैसों से ही सभी कुछ संभव है बहन। हमेशा अपनी सीमा में ही रहना चाहिए।'

हाय, तभी तुमने मेरा उपहास किया था, पुरुषोत्तम ! सीधे हृदय से कही गई बातों में माया की गंध इसीलिए लगी कि तुम चाँदी की माया में अपने को गिरफ्त कर चुके थे !

खाट की पाटी पर चक्कर खाकर गिरी तो माथे से खून निकल आया। यह साधारण चोट का रक्त नहीं था; मेरे सिर पर दस हज़ार की मार थी।

सूनी छत पर, अँधेरे आकाश में आँखें गड़ाए जाने कब तक देखा करती। रीता भाभी आकर डाँटा करतीं—'आखिर तुम्हें क्या हुआ है

वांछा ? जीवन में इन सस्ती भावुकताओं का कोई स्थान नहीं है।' मैं निःशब्द रोया करती।

—'वांछा, मैंने तुम्हें सरल-सीधी लड़की समझा था, मगर सचमुच तुम रहस्यमयी हो। यह रोज़-रोज की बेहोशी, यह रोना-धोना भले घरों की कुमारी लड़कियाँ नहीं करतीं। यह सब ब्रज की गोपियों के ज़माने की बातें थीं। साफ-साफ कहो क्या हुआ है ?'

—'मैं—मैं—चिन्मय से···'

—'ब्याह नहीं करोगी। शैलेश तुम्हें फूटी आँखों नहीं भाता। अपने पिताजी के खोजे वर पसन्द नहीं, तो क्या चाहिए तुम्हें ? पुरुषोत्तम को ग्रेजुएट लड़की मिल गई तो वह भी मुकर गया। अब क्या करोगी ? न पढ़ोगी, न स्वर-साधना कर सकीं, न मुंह खोलने की हिम्मत है। यह रोना और रोना फिर बेहोश होना ! ना, बाबा, मेरे बस का यह रोग नहीं। तुम्हारा ब्याह ही हो जाना चाहिए। और सुनो, शैलेश के हित के लिए अच्छा है, तुम यहाँ से चली जाओ।'

भराए गले से मैंने 'अच्छा' कहा।

उस रात खाना नहीं खा सकी। क्या मैं इतनी हेय हूँ ? पुरुषोत्तम, तुम इतने नीच हो ! निर्दय ! ना-ना, शैलेश को चुनने से तुम यही कहोगे—कि मेरा ध्येय पैसा ही था। मैं कष्टों का ही वरण करूँगी। अपनी बर्बादी पर तुम्हें रुलाकर छोड़ूँगी, ओ पाषाण ! और जिस दिन तुम्हारी वज्र-सी छाती फोड़कर आँसुओं की सरिता मेरा तर्पण करेगी तभी मेरी जन्म-जन्मान्तर की तृषा का अन्त भी होगा। उसी रात कान्त भैया के मेस में कहलवा दिया कि वे पिताजी को लिख दें, मुझे आकर ले जाएँ।

वापस आते समय रीता भाभी ने कहा था—'फिर भी कहती हूँ वांछा, सोच-समझकर कदम रखना और कभी विपत्ति में पड़ो तो मुझे याद करना।'

इलाहाबाद से लेकर गाँव के स्टेशन तक भ्रम होता रहा, शायद तुमने दुबारा सोच लिया हो। शायद अब अपनी भूल का भान तुम्हें हो और अगले स्टेशन पर बादलों को फाड़कर आ पहुंचोगे—'मेरी वांछा

चिह्नस्वरूप कुछ पुराने जेवरात निकालकर बेचने के लिए दिए जा रहे थे। बाहर मंडप पर सुनार, पटवारी और गाँव के एक-दो वृद्ध आत्मीय, जेवरों के बीच विषण्ण बैठे पिताजी, जिनका नतग्रीव, उदास मुँह देखकर ही मैं अचेत हो गई थी।

कान्त भैया फिर आए—'वांछा, घर की हालत देख रही है न? अभी कोई झमेला किया तो कई हत्याओं का दाय तुम्हारा होगा। बोल, क्या चाहती है?'

—'कुछ नहीं चाहती हूँ। सब कुछ चुपचाप सह लूँगी, सिर्फ तुम मेरे सामने मत आओ!'

—'मैं ही सामने आऊँगा, वांछा!'

और उसी समय से मर्म फोड़कर जो करुण क्रन्दन फूटा, जब तक बरात वापस नहीं गई, नहीं रुका। पूजन की गौर मैंने मार एड़ियों की चपटी कर डाली। जिस रामायण की रामशलाका प्रश्नावली से तुम्हारे मिलन के शकुन किया करती, उसे भट्ठी में डाल आई और न जाने कितनी शुभ वस्तुओं का संहार कर डाला।

फेरों के समय नाइन मुझे लेने आई तो मैंने श्यामा को संकेत किया और उसे लेकर कुएँवाले खंड में व्याकुल-सी राह तकती रही। शायद किसी ओर से आ जाओ! कोई आकर कह दे, परम कौतुकी, तुम यही देखने आ पहुँचे हो, पुरुषोत्तम!

—'क्या ढूंढ़ रही है, वाँछा?' बहुत दिनों पर श्यामा का पुराना प्यार-भरा शब्द सुना।

—'वे आए हैं, श्यामा?'

—'कौन पुरुषोत्तम?'

—'हाँ।'

—'पगली, आज उनका भी ब्याह हो रहा होगा। चल, भाँवरों की वेला बीत रही है, शुभ कार्य शुभ योग में ही होने चाहिए।'

मैंने श्यामा को छाती से चिपटाकर कहा—'श्यामा, मुझे गलत मत समझना। तू बच गई श्यामा, तू बच गई।'

—'अरे देखो, ब्याह-मंडप पर पंडितजी चिल्ला रहे हैं और तूने

यहाँ रोना-धोना मचा रखा है ? चल वांछा,' माँ मुझे खींचती-सी ले गई।

सभी कहते हैं, सुहागरात की कलियाँ नववधू के मन में खिलती हैं, जिनकी खुशबू जीवन-भर व्याप्त रहती है। मेरी सुहाग-सेज पर जाने क्या बिछे थे, पता नहीं। मैंने तो उसपर पांव भी नहीं रखा था।

आधी से भी अधिक रात बीत चुकी थी, कई बार शीला भाभी ने प्रयास किया, मैंने फूलों के गहने अंगों से छुआए तक नहीं। कोई शृंगार करने नहीं दिया। सामानवाले अँधेरे कमरे में हतचेत-सी पड़ी चुप-चाप शून्य निहार रही थी। आँखें शून्य पर टिकी थीं अवश्य, पर दृश्य उनमें किसी पुष्पशय्या का, किसीके उमगते सुहाग-कक्ष के स्वरूप विक-सित कर रहा था—जहाँ तुम होगे पुरुषोत्तम और वह सुहागिन होगी, जिसने मेरा सब कुछ छीन लिया !

घड़ी ने तीन बजाए। शीला भाभी ने अब दंडनीति का पालन किया—'वांछा, सभी औरतें फुस-फुस कर रही हैं। कहीं सुहाग-कक्ष भी सूना रहता है ? इतना सहा ही है तो आगे भी धीरज बाँधो, रानी !'

शीला भाभी ने मेरी ठुड्डी उठाकर मेरी आँखों में झाँका—'मनुष्य की मर्यादा सीमित है, वांछा, उठो, चलो। पहले एक कुल की लाज थीं, अब तो दोनों कुल की मर्यादा हो तुम।'

और उसी तरह ब्याह की हल्दी में रँगी बिना किनारे की मलमल, निराभरण, निरलंकृता और काँपते कदमों से शीला भाभी का सहारा लेकर वहाँ पहुँच सकी।

कोहबर में जमीन पर बिछी शय्या पर चिन्मय कवि का विशाल शरीर आधे से अधिक भाग को घेरे पड़ा था।

—बाप रे ! एक ही दृष्टि में उस गहरे श्यामवर्णी, कंधे तक फैले केश और विराट्काय पति को देखकर जाने कैसा भय हो आया। शीला भाभी के हाथ में मेरी कलाई थी, लेकिन पता नहीं कैसे उन्हें मेरी हृदय-शिराओं का पता लग रहा था।

बड़े प्यार से उन्होंने मेरा कंधा थपथपाया—'जगज्जननी सीता ने

भी राम के चरण छुए थे, वांछा ! जमाई बाबू के पाँव छुओ।'

मगर वांछा तो जड़ हो रही थी'''काश, तुम होते पुरुषोत्तम, दौड़कर तुम्हारे चरणों में बंध जाती।

—'छिः, वांछा यह क्या जहालत है ?' उन्होंने मेरे कसकर लपेटे गए मुँह को खोलने का विफल प्रयत्न किया।

चिन्मय कवि ने आँखें खोलकर देखा और तनिक हँसा। लेकिन ज़रा भी टस से मस नहीं हुआ।

शीला भाभी ने भीगे स्वर से कहा—'जमाई बाबू, जो कली तुम्हारे चरणों पर सौंप रही हूँ, उसकी पंखुरियों को स्वभावतः ही खुलने देना।'

—'आइये बैठिए।'

रात बहुत थोड़ी है। शीला भाभी मुझे छोड़कर चली गईं और बाहर से साँकल बन्द करने की आवाज़ मैंने सुनी।

—'वांछा, आओ बैठो।' चिन्मय दो-तीन बार पुकार गए। अपनी ओर खींचने का, मुँह उघाड़ने का असफल प्रयत्न भी किया। मेरे प्राणों में जाने कैसी आग फुँकी जा रही थी।

क्षण-भर में ही उन्होंने तेवर बदले—गंभीर कंठ-स्वर, सुहाग-कक्ष के फूलों को झुलसानेवाला वह्निस्वर जगा—'क्या समझती हो, मैं इसके लिए मरा जा रहा हूँ ? मुझे तुम्हारी ज़रा भी खुशामद नहीं वांछा ! मैंने तुम्हारी प्रतिभा को ब्याहा है ! व्यंग्यचित्र बनानेवाली उँगलियों को पंजे में कसा है !'

कानों में कोई पिघला हुआ लोहा भी डालता तो वह कष्ट नहीं होता।

पहले आँसू की बूंदें झरीं, बूंदें बौछारें बनीं, और फिर चिन्मय कवि जितना ही पुकारते, निःशब्द रुदन का आवेग बढ़ता जाता !

वे शब्द अभी भी याद हैं जब चिन्मय ने थककर अनुताप-भरे शब्दों में कहा था—'तुम्हारा कभी स्पर्श भी नहीं करूँगा वांछा, चुप हो जाओ।'

—'कान्त ने मेरी चिट्ठियाँ तुम्हें दिखलाई थीं ?'

—'जी हाँ।'

—'खैर गूँगी नहीं हो !' वह सूखी-सी हँसी हँसा।

'वे सारे पत्र झूठे हैं वांछा। लगातार साल-भर तक तुम्हारी प्रेम-परीक्षा लेता रहा, अन्त में मैंने स्वीकृति दी।'

तो साल-भर तक उसने लिखा किया और साल-भर तक मेरी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा की ? हाय, कान्त भैया ने तो सारे पत्र क्षण-भर में ही दे डाले ! क्या कहती भाई के वेश में पूर्वजन्म के किसी शत्रु ने वज्राघात किया ? मौन ही रही।

'तुम्हारी कविताएँ जब से देखीं, सपने बाँधता रहा। उन बातों में कोई तथ्य नहीं है वांछा, तुम्हीं मेरी युग-युग की प्रिया हो।'

—'आपने श्यामा से···'

—'ब्याह क्यों नहीं किया ?' वाक्य उसीने पूरा किया। 'मैंने ऐसी सिद्धि साधी है, जिसपर अनेक श्यामाएँ वारी जा सकती हैं।'

—'ऐसा मत कहिए। मैं आपके योग्य नहीं हूँ। मैंने अपना सर्वस्व किसी और पर निछावर कर दिया है।'

'सर्वस्व निछावर ? कुछ नहीं रखा मेरे लिए ?' वे हँसे। मैंने इस हँसी का मर्म नहीं समझा। मात्र निःशब्द आँसू झरते रहे।

—'वांछा !'

—'जी।'

—'कौन है वह बड़भागी ? सच-सच बता दो। मैं कतई बुरा नहीं मानूंगा।'

बड़े यत्न से काँपते कंठ से मैंने तुम्हारे प्रथम प्रेम की कथा पंक्तियों में कह दी। केवल अपने अंतिम अपमान की बात कहने को मुँह खुला ही नहीं।

—'वह पत्थर ही नहीं, जड़ था वांछा।'

तभी चार के गजर बज उठे। शीला भाभी ने दस्तक दी और द्वार खोलकर प्रवेश किया :

'अब रात खत्म हो चुकी, कविजी !'

प्रात: श्यामा ने आइना लाकर दिया था—'देख, अपना वधू-वेश, कितनी प्यारी लग रही है, वांछा !' देखा—मेरे केशों के बीच सीमन्त

की जो धवल पंक्ति काली रात में आकाशगंगा की भाँति श्वेत थी, उसमें सिन्दूर की गहरी लाल रेखा भर दी गई थी। जाने क्यों अपना मुँह ही कुछ दूसरा नज़र आया। तुमने भी किसीकी माँग में ऐसी ही रेखा भरी होगी, पुरुषोत्तम ! चुपके से ही दो बूँद आँसू ढुलक आए। आइना मेरे हाथ में था, उसमें प्रतिबिम्बित मेरा अपना निरा साधारण-सा मुँह, नव परिणीता का मुँह था; मगर दृष्टि में जो रंग उभर रहे थे, उनमें दूसरे ही नक्श दिख रहे थे—वह तुम खड़े थे—पुरुषोत्तम !—'घबराना मत, मैं दो वर्ष के बाद आ जाऊँगा !'

और आइना हाथ से छूटकर चूर-चूर हो गया।

ब्याह के कई माह बीत चुके थे। इस बीच चिन्मय के कई पत्र आ चुके। पत्र क्या थे, अनुतप्त आत्म-स्वीकृतियाँ थीं। सभी में एक स्वर से ही इसकी चर्चा होती—'वांछा, मैं तुम्हारे लायक नहीं हूँ। कान्त ने तुम्हें धोखे में रखा। मैं पुराना पापी हूँ। मेरी आदतें कभी छूट भी सकेंगी, नहीं जानता।'

प्रत्यक्ष होने पर बड़े ही गंभीर स्वर में उन्होंने कहा—'वांछा, ब्याह क्यों होता है, जानती हो ! तन और मन सभी की तृप्ति के लिए ही तो ?'

—'और जो मन कभी तृप्त नहीं हो ?' मेरा लक्ष्य उनके पत्रों की ओर था।

तीखे स्वर में उन्होंने कहा—'यह दृष्टि का फेर है, वांछा ! यह अतृप्ति, यह चिरन्तन प्यास ही तो जीवन का प्रवाह है। स्वयं कविता लिखती हो, इतना नहीं समझतीं ?'

मेरे दीर्घ मौन पर वे फिर खीझे—'वांछा, इस तरह कब तक चलेगा ?'

—'क्या ?'

—'क्या कुछ समझतीं ही नहीं ? ब्याह हुए छः माह गुज़रने को हैं, यह दो हाथ की दूरी जीवन में कितनी गहरी खाई खोद रही है। उपस्थिति की समीपता के मध्य भी अन्तस् का यह पार्थक्य, यह दुराव दोनों को दो विपरीत ध्रुवीय बना रहा है। ऐसा था तो विवाह किया ही क्यों ?'

—'निरुपाय थी स्वामी। कान्त भैया ने कहा था कि यह शादी नहीं होने से बड़ा अनर्थ होगा।'

—'हूँ।'

अपने बिछावन से फिर वे उठ बैठे—'वांछा, जीवन के लम्बे पथ पर शादी एक सामाजिक समझौता-भर है, बस, इससे अधिक मैं कुछ नहीं मानता। यदि इसी तरह घुट-घुटकर मरना और मारना नहीं चाहो तो हम लोग भी समझौता कर लें। मानता हूँ वांछा, तुम्हें कष्ट होता है, मगर मैं अब सह नहीं सकता। तुम जीवन-भर चाहे जिसके नाम को अश्रुअर्घ्य चढ़ाती रहो, मुझे कोई एतराज नहीं। लेकिन मुझे तो पार्थिव प्रेम चाहिए, मांसल अनुभूति चाहिए, वांछा! बोलो, मुझे बाधा तो नहीं दोगी?'

उत्तर में अग्निवेदिका के समक्ष अर्द्धांगिनीत्व की प्रतिज्ञा करनेवाली वांछा बोले तो क्या?

—'वांछा, अब तक असली बातों से कोई परिचित नहीं है। तुम मेरी ढाल बनो और मैं तुम्हारी। तुम जरा-सा ही कष्ट करो तो मैं श्यामा को प्राप्त कर सकता हूँ। देखती हो, दिन में जब तुम्हारी अन्य सखियाँ हास-परिहास किया करती हैं, वह आँखों से ही मुझे पिया करती है, वह भी चोरी-चोरी!'

—'क्या कहा?'

—'चीखो मत, सौ-सौ प्राणों से वह मेरी अनुरक्ता है।'

—'लेकिन उसका तो ब्याह ठीक हो चुका है।'

—'तो हर्ज क्या है? तुम्हारा ब्याह भी तो ठीक हो चुका था और पुरुषोत्तम से तुम प्रेम-निवेदन किया करती थीं।'

—'किसी मद्रासी द्वारा प्रेम-पत्र भेजा था न? सचमुच पुरुषोत्तम बड़ा खूबसूरत है।'

—तुम्हें कहाँ मिले?' मैं जैसे आकाश से गिरी।

—'कवि-सम्मेलन में लखनऊ गया था, पुरुषोत्तम से वहीं मिला था।'

—'तो क्या···?' कंठ में जैसे शब्द अटक गए हों!

—'हाँ, मंच पर ही आकर उन्होंने मुझे अपने आलिंगन में ले

लिया। घर ले गए और बड़ी खातिर की। उनकी पत्नी को भी देखा—अप्सरा जैसी खूबसूरत है। खुद आई० सी० एस० और पत्नी एम० ए०। नाम उसका छविछाया है, लेकिन पुरुषोत्तम 'छाया' ही कहा करते हैं। तुम्हारी बाबत पूछ रहे थे, और मुझसे बहुत आग्रह किया है कि तुमसे कहूँ—'अपनी सीमा में ही सभी कुछ शोभा देता है। और, यह भी कि वांछा से ब्याह करने की इच्छा मेरी कभी नहीं रही, वही इस तरह गले पड़ी कि टालने के लिए ही ब्याह का आश्वासन देना पड़ा।'

—'बस, करो, अब कुछ नहीं सुनना चाहती!' मुझे लग रहा था, सारी पृथ्वी घूम रही है। जाने कब, कैसे और कितनी देर मैंने चिन्मय के कंधों का सहारा ले लिया था! प्रतीत होता था, ऊँचे आकाश से गिरकर अँधेरे, आधारहीन बादलों के साथ गिरती जा रही हूँ।

होश तो तब आया जब बड़ी ही मृदुता से चिन्मय ने मुझे अलग हटा दिया। फिर बड़ी ही ग्लानि और कुंठा से मन भर आया।

—'कोई बात नहीं', वे तनिक हँसे—'हम दो मित्रों की भाँति निर्विकार रहेंगे वांछा।'

—'और क्या कह रहे थे?' बड़े कष्ट से मैंने पूछा।

चिन्मय के स्वर में हलके रोष की झनझनाहट थी:

—'फिर उन्होंने अपने परिणय की बातें कहीं। रामगढ़ काँग्रेस में ही छवि के भाषण से वे प्रभावित हुए और उसके मंच से उतरते ही प्रार्थी बने। छवि ने बड़े ही सम्मान से उनका स्वागत किया था!'

एक दबे-से निश्वास के साथ मैंने करवट फेर ली।

आरम्भ से लेकर आज तक की सारी बातें आँखों में चित्र की भाँति घूम रही थीं। निःशब्द आँसुओं से सारा तकिया भीग उठा और जाने कब नींद आ गई।

जब-जब चिन्मय आते, उनकी कई मित्र महिलाएँ मुझसे मिलने आया करतीं। उस दिन भी कई सुन्दरियाँ आईं और सारा दिन संगीत, वाद्य, हास, परिहास का जमघट रहा। जाने क्यों मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता। वे मुझे लाख छेड़तीं, गुदगुदातीं, मगर मैं उद्रिक्त हो नहीं पाती।

जाने कैसा लगता।

...वे मेरे पति की मित्र थीं, जिनका नैतिक मानदंड मनसा-मैत्री तक परिचित रह जाने में कुंठित होता। अतः परिधि का चतुर्दिक् विस्तार उनकी आचार-संहिता का प्रथम मान बना।

आज मैं लगातार श्यामा को पढ़ रही थी। उसकी वे नजरें, बावजूद दबाने के चेहरे पर उफनाए वे अलफाज, आंगिक भंगिमाएँ मुझे कैसा कुछ लगने लगा।

तो श्यामा मन ही मन चिन्मय की अनुरक्ता है ? तो मैं इस पाप की होत्री बनूँ ? और इसका अंजाम क्या होगा ? छिः, श्यामा की शादी ठीक हो गई है। नहीं-नहीं, मैं ऐसा कभी होने दूँगी। मगर श्यामा से पूछने में हानि क्या है ? सो एकान्त में मैंने पूछा—'मुझसे बिगड़ी है श्यामा !'

—'भला क्यों ?'

—'इसीलिए कि तुम्हारा सुख... कहे तो तेरी राह छोड़ दूँ !'

— 'वांछा !' श्यामा तमक उठी—'आखिर कहना क्या चाहती है, वांछा ? देखती हूँ जब से प्रयाग से आई है तू भागी-भागी चलती है। आखिर क्या हुआ है तुझे ?'

—'तुझे मेरी सौगन्ध है, सच बता, तू चिन्मय को प्यार करती है ?'

—'छिः, कैसी बातें करती है, वांछा ! किसी दिन चिन्मय के लिए मेरे मन में स्थान था पर तुरंत ही भ्रम-निवारण हो गया।'

—'तो उस तरह देखा क्या करती है ?'

श्यामा हँसी—'कहाँ देखती हूँ री, क्या आँखें फोड़ लूँ ? ऐसा सुन्दर दूल्हा है तेरा ?'

—'नहीं, श्यामा वे कहते हैं तू उन्हें अब भी चाहती है !' जाने क्यों नहीं चाहते हुए भी यह मुँह से निकल गया।

बड़ी मार्मिक हँसी हँसी श्यामा—'वांछा, सब दिन की बछिया ही रह गई तू ? तुझे बहुत सजग और सतर्क रहना होगा, वरना कहीं की नहीं रहेगी। रतनजी को जानती है न ?' क्षण-भर मौन रहकर बोली—'शीला भाभी के भाई 'रत्नाकर' ! पुरुषोत्तम के मित्र हैं वे। उनसे ही मालूम हुआ था कि विदेश से लौटते ही सबसे पहले कुशल-क्षेम पुरुषोत्तम

ने तुम्हारा ही पूछा और यह सुनते ही कि तुम्हारा प्रेम-विवाह चिन्मय कवि से हो रहा है, बड़े ही मर्माहत हो गये। उन्होंने रत्नाकरजी से कहा था---मेरी एकान्त इच्छा है वह सुखी होए, रतन, वह बहुत सुखी रहे।'

—'श्यामा !'

—'कह वांछा !'

—'यह कब की बात है ?'

—'तू प्रयाग में ही थी। रतन भैया तभी आए थे, वे चाहते थे तू फिर उसी तरफ मुड़ जा और पुरुषोत्तम की चोट फूल बन जाए। लेकिन श्रीकान्त ने स्पष्ट शब्दों में रत्नाकरजी से कहा था—दोनों एक साथ घूमते-फिरते और एक ही मंच से कविता-पाठ भी करते हैं !'

—'हाय, राम !' लगता था, सारी पृथ्वी ऊपर-नीचे हो रही है ! बड़े कष्ट से कहा—'तूने मेरे आते ही यह सब क्यों नहीं कहा था श्यामा ? ये सारी बातें झूठी हैं, गढ़ी हुई हैं। मैंने चिन्मय को सुहागरात के पहले कभी देखा भी नहीं था !'

—'रो मत वांछा ! नियति को यही मंजूर था। फिर मैं क्या कहती ? तू तो भागी-भागी चलती थी। ब्याह के पन्द्रह दिन पहले ही तो आई थी तू। तब तक पुरुषोत्तम को भी छवि मिल चुकी थी !'

हाय ! यह कितनी दारुण हाय थी, तुम्हीं जानते हो अंतर्यामी ! होश आने पर देखा—श्यामा के आँसुओं से मेरा मुँह भीग उठा है।

तभी तुमने मेरे पत्र की अवहेलना की ! यह कैसा न्याय किया पुरुषोत्तम ! मेरी फरियाद भी तो सुनी होती ? एकतरफा गवाही पर ही फैसला दे दिया ?

छवि ने लिखा था—'प्रिय बहन, वैसे आपके नाम से मेरा परिचय है और आपसे मिलने की इच्छा भी होती रही है। सहसा यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरे पति आपको जानते हैं···'और न जाने क्या-क्या लिखा था छवि ने। अब तो वह पत्र भी नहीं है कि छाती ठंडी कर लूँ, उसे तो कान्त भैया कसाई की तरह ले भागे।

ब्याह के कुछ दिन बाद ही छवि का पत्र आया था, और मेरी सोई

आग धू-धूकर जलने लगी । चाह कर भी जवाब नहीं दे पाई । छवि की यह पंक्ति—'मेरे पति आपको जानते हैं,' दिल पर घूँसे की तरह लगती और मैं व्याकुल हो जाती । रो-रोकर बेहाल हो जाती । कागज़ गीला हो जाता, पर छवि को एक पंक्ति भी नहीं लिख पाती । क्या लिखती ? जो मेरा होता, उसे छवि ने लूट लिया । नागिन ! कितना मीठा दंश मार रही है ? कान्त भैया छवि का पत्र भी ले भागे, क्यों ? ज़रूर मेरे साथ कहीं कुछ गहरी चाल खेली गई है ?

फिर चिन्मय को छाती से लगाकर उन्होंने वैसी बातें क्यों कहीं ? हाय, पुरुषोत्तम क्या तुम निष्ठुर नहीं हो ?

आह, बड़ी मर्मान्तिक पीड़ा उठ रही है । दो नर्सें दौड़ी आती हैं । एक टेम्परेचर लेती है, दूसरी बांह में सुई चुभोकर चली जाती है । हलकी-हलकी तन्द्रा-सी आ रही है, लेकिन नींद नहीं आती । लगता है, जैसे विगत अतीत अनेक रूपों में मूर्त हो भीड़ लगाए जा रहा है ।

एक दिन इसी तरह पीड़ा और ज्वालाओं की सेज पर पड़ी थी । छाती से नीचे संपूर्ण शरीर पट्टियों से बंधा पड़ा था—फफोलों से भरा काला कुरूप और दवाओं की गंध से आपूर्यमाण !

आँखें खोलकर अपने चारों ओर देखा—कई चेहरे मुझपर झुके थे—माँ, पिताजी, डॉक्टर, कंपाउण्डर, श्यामा, शीला भाभी, घर के नौकर-चाकर और वह, वह कौन है वहाँ ?

—'चिन्मय हैं बेटी तुम्हारे पति ।'

'नहीं, नहीं, पति नहीं, पति नहीं । बचाओ, मुझे बचाओ पिताजी !' मैं लगातार चीख रही थी ।

—'चिन्मय, पंखा तेज़ कर दो ।'

—'नहीं, चिन्मय नहीं, उसे हटाओ यहाँ से !' और मेरी रुलाई फूट पड़ी ।

यह अपने हाथों किया गया मेरा अपना दाह-संस्कार था । तुम्हें खोकर मेरे पास कुछ नहीं बचा था पुरुषोत्तम ! एक व्रत की वेदना थी, अनुताप का दंशन था और शेष था जीवन-साधना का संकल्प, उसे इस

चिन्मय ने नष्ट कर डाला।

हाँ, मैंने आग अपने हाथों लगाई थी। मैं जीना नहीं चाहती थी। इस तन को ढोकर क्या करती ? जिसके लिए जीवन के थाल में अरमानों के पुष्प सँजोए, वह नैवेद्य मंदिर के द्वार पर ही जूठा हो गया। एक चुम्बन का दाग लिए जीवन-कुसुम की शेष सुरभि जिसके चरणों पर मौन अर्पण करने का संकल्प था, उसे भी इस पापी ने नष्ट कर डाला। उस रात की याद एक भयानक स्वप्न की तरह बनी है—चिन्मय और दिनों की अपेक्षा आज अधिक रात को और कुछ अधिक पीकर आए थे। श्यामा से उसी सन्ध्या में पुरुषोत्तम के भ्रम की बात जानकर मन टीस रहा था अलग, दूसरे—श्यामा की स्पष्टोक्ति कि चिन्मय के अनेक प्रेम और पाप-लीलाओं की जानकारी उसे रत्नाकरजी से ही हो चुकी थी, मात्र इसी परिचय के कौतुक और उपहास-स्वरूप वह उन्हें निरखा-परखा करती है, यह जानकारी भी मन को विरक्त बना रही थी।

—'वांछा !' चिन्मय आज कुछ बदले से नजर आए। मुंह से एक तेज गंध छूट रही थी। और दिनों की भाँति अपने बिछावन पर नहीं जाकर, मेरी शय्या पर आ बैठे और मेरा हाथ पकड़ लिया—'तो, तुमने सोच लिया।'

—'क्या ?' मैंने झटके से हाथ छुड़ा लिया।

—'वही समझौता ? श्यामा की रूप-माधुरी मुझे जला रही है, वांछा ! तुम तो निरी मिट्टी की गुड़िया हो—बेकाम, जड़ और निष्प्राण। श्यामा मांसलता और समर्पण की सजीव प्रतिमा है।'

—'क्या वाहियात बकते हो ?'

—'क्यों बुरा लगता है तुम्हें ! तुममें भी ईर्ष्या है वांछा ?'

—'मैं क्या आदमी नहीं ?' मैं रुआँसी-सी बोली।

—'तो चलो, आओ। आओ वांछा, मैं बहुत ही प्यासा हूँ। युग-युग का प्यासा कवि हूँ !'

मुझे पागलों-सा यह प्रलाप सुनकर हँसी भी आई और वे उन्मत्त चेष्टाएँ देखकर भय भी लगा। कहा—'हटो भी, क्या बकते हो ? कोई सुन लेगा तो ?' जाने कैसे मेरे हाथ का नया कंगन चिन्मय की नाक पर

जा पड़ा और वे नाक पकड़कर बैठ गए—'आह ! तुम बन्दर हो वांछा ! तुम्हारा एक-एक आभूषण नहीं फेंक दिया, जान रखो !'

अनुताप की आग मुझमें जल उठी—'गल्ती से लग गया । लो, खोले देती हूँ। मुझे क्षमा कर दो ।'

तभी अनभ्र वज्रपात-सा हुआ । चिन्मय का पशु पूरी तरह जग उठा था !···हाय पहले ही किसीने बता दिया होता, मात्र एक चुम्बन के दाग से कोई कुमारी भ्रष्ट नहीं हो जाती, तो इस कुंठा की भँवर में पड़ती ही क्यों ? और जिसने यह ज्ञान दिया, उसीने तो मेरे शेष स्वप्नों की बगिया उजाड़ डाली !

मैंने पूर्व नियोजित संकल्प का ही कार्यान्वयन किया था। दो साड़ी एकसाथ लपेटकर टिन का बचा हुआ सारा किरोसिन तेल उलीच लिया । रात्रि का शेष भाग अनुताप और दाह के आँसुओं के बीच बिता चुकी थी। प्रातः ही उठकर खूब निष्ठा से स्नान किया । पूर्ण मनोयोग से अपना शृंगार किया और महीनों की छूटी पूजन-विधि की आवृति कर अपनी सभी प्यारी वस्तुओं, सभी प्रिय स्मारक और स्थानों को देखा किया । 'शक्ति' से तुम्हारी तस्वीर काटकर एक छोटे-से फ्रेम में पहले ही लगा ली थी, उसे निकालकर घंटों देखा। मुझे कुछ नहीं सूझ रहा था, पुरुषोत्तम ! अपने शरीर से, जीवन से, सारे संसार से मुझे घृणा हो गई थी । मैंने सोने के मृग पर ललचाने की सजा अपने लिए यही तजवीज की और अपने ही हाथों अपनी काया को अग्नि-समाहित किया ।

···'पिताजी, मुझसे नहीं सहा जाता। मुझे कोई दवा दिला दीजिए; मैं मर जाऊँ । पर, चिन्मय को यहाँ से हटा दो ।'

रात में जब पूरी तरह होश में आई, देखा—पिताजी, मेरी ओर झुके थे—'यह क्या किया वांछा ?'

—'मुझे मरने दीजिए, पिताजी ! मैं जीना नहीं चाहती ।'

—'वांछा, चिन्मय को अब क्यों नहीं देखना चाहती ? सच-सच नहीं बताएगी ?'

—'मैंने देखना ही कब चाहा था ?···'

—'मगर कान्त ने तो प्रयाग से आकर कहा था—वांछा चिन्मय को जिस दिन नहीं देख पाती है, पागल-सी हो जाती है।'

—'पिताजी ! कान्त भैया झूठे हैं।' उस घोर व्यथा में भी अंतिम दिन के विरोध की बात मेरे मुंह से निकल गई।

सारी बातें सुनकर पिताजी ने सिर ऊपर उठाया—उनकी आँखें लाल गुड़हल हो रही थीं ! तो, ये भी रो सकते हैं ?

—'बेटी, अपने बच्चों की गोपनीयता और पीड़ा उछालने का प्रायश्चित मुझ-से अभागे बाप ही झेल सकते हैं ! मगर अब क्या हो सकता है बेटी ? फिर इस दुःख का निदान तुझे यही सूझा ? बता तो कितना बड़ा अपराध किया है तूने ? डॉक्टर तक को संदेह हो गया है। मुहल्ले के लोग कानाफूसी कर रहे हैं। यदि सुबह पुलिस आए और कुछ पूछताछ करे तो कहना आग अचानक लग गई है। मेरी मर्यादा बचा ले बेटी।'

—'पिताजी !'

—'कह वांछा !'

—'चिन्मय को कहो यहाँ से जाए।'

—'ऐसा मत कह वांछा; कानून के हाथों वही तुम्हारा अधिकारी है। उसे कुछ दिनों घेरकर रखने में ही यह प्रतिष्ठा रह सकती है वांछा। मगर यह तो बता, तूने ऐसा क्यों किया ?'

—'चिन्मय ने मेरा अपमान किया पिताजी; मैं उसकी गंदी बातें सुन नहीं सकती।'

—'पगली ! अपना पति है। गंदी बातें क्या करेगा, वांछा ? ऐसा नहीं कहते बेटा !'

—'पिताजी, आप भी ऐसा ही कहते हैं ?' मैं फूट-फूटकर रो उठी ! 'ऐसा ही है तो बिहारी चाचा से कहिए, श्यामा का ब्याह उससे कर दें।'

अचानक ही उन आर्द्र आँखों में अंगारे दहक उठे।

—'वांछा, वह मेरा जमाई है तो क्या, चिन्मय की इतनी हिम्मत ?'

शायद वे कुछ आफत ढाते किन्तु स्निग्ध चाँदनी की तरह माँ आई,

उनके आवेश से लाल ललाट पर अपना हाथ रखकर बोली—'अपनी एक गल्ती तो जीवन-भर सालेगी ही। अब दूसरी क्यों करते हो ? ऐसी बातें दबा दी जाती हैं, उछाली नहीं जातीं, और पिताजी मेरी पट्टी बंधी हथेली गोद में लेकर बच्चों की तरह फूट-फूटकर रोने लगे।

हाय, यह क्या हो गया पुरुषोत्तम ? नियति किन कुश-काँटों से भरे मार्ग पर मुझे खींचे लिए जा रही थी ? कौन-सा मार्ग है मेरा ? जीवन का इतना दुर्गम पथ कैसे एकाकी कट सकेगा ? चिन्मय कवि, मात्र कवि हैं। रीतिकालीन रस-सिद्ध कवीश्वर, नारी-शरीर की शृंगार-मुद्राओं और कामोत्तेजक भंगिमाओं के पुजारी !

यद्यपि रोग-शय्या पर मैं तीन-चार माह पड़ी रही, लेकिन यह भी जानती थी कि पत्नी की सेवा में अप्रतिम माना जानेवाला पति रात चढ़ते ही कहाँ जाता है और भोर होते न होते आकर, दिन चढ़े तक सोकर कैसे खुमार मिटाता है !

कान्त भैया का कहीं पता नहीं था। मेरी लम्बी बीमारी की खबर सुनकर भी नहीं आए। लेकिन मुझे इसका गम नहीं था। मैं स्वयं नहीं मिलना चाहती थी। चिन्मय से सारी बातें मालूम हो चुकी थीं और यह भी जाहिर हो चुका था कि अपने स्वार्थ के लिए ही चिन्मय के गले में मुझे मढ़ दिया। ऊपर से यह प्रवाद भी फैलाया कि चिन्मय के विना मैं जी नहीं पाऊंगी।

लेकिन हाय, चिन्मय की शंका कुछ दूसरी ही थी, जिसका निराकरण जीवन-भर नहीं हो पाया।

गुलाबी जाड़े के आरंभ का दिन—सुबह की मीठी धूप में आँखें बन्द किए इस खंड-खंड हो गए जीवन को जोड़कर पढ़ने का प्रयास कर रही थी। तभी कानों को तानपूरे के साथ किसीके अत्यन्त मीठे सुर का स्पर्श मिला :

दीनानाथ, दुखभंजन, पद्मनाभ, पुरुषोत्तम
यशोदानन्द नन्दन, आनन्द कन्द'''।

यही वह पहला गीत था, जिसकी पंक्ति पर मुझे स्वर-साधना कराई गई थी। कौन गा रहा है ? ज्यों-त्यों कर द्वार तक आई, देखा—गैरिक परिधान किए दो तपस्वी, एक जटिल वृद्ध, दूसरा प्रदीप्त तरुण, द्वार पर खड़े हैं।

वृद्ध की ठूँठ-सी उंगलियाँ तानपूरे के तारों पर स्वर-संधान करतीं और छाया की भांति तरुण की स्वर-लहरी उनका अनुगमन ! वर्णनातीत था वह दृश्य !

मां ने बड़े आदर से उन्हें बैठाया और मेरी ओर संकेत कर कहा—मेरी एक-मात्र वांछा है महाराज। आशीर्वाद दीजिए, इसका सुख-सुहाग बना रहे।

महात्मा के चरणों पर झुकते-झुकते ही जाने कैसे आँख से एक बूँद टपककर उनके पांव पर ही आ गिरी।

—' कल्याणी ! जिस कठोर व्रत का संकल्प लिया है, उसे पूरा करने के लिए वज्र-कठोर बन जाना पड़ेगा। यही शिव की इच्छा है।

' वांछा कभी नहीं पूरी होती, शुभे ! अंजनहारी को देखा है ! स्वरूप-तादात्म्य की साधना उसीसे सीखो। अन्तर्वासी की मूर्ति मलिन नहीं हो, इसलिए ही तो जीवन के सारे कर्म निस्पृह भाव से करने होंगे। मन की साधना सच्ची होती है। तन तो झूठा है, वांछा। अपनी सीमा को असीम में मिला दो। जो कुछ मिला, उसमें उसीका स्वरूप देखो, उसीका स्वर सुनो और सारे जहर को अमृत समझकर पी जाओ। वह अंततः तुम्हें प्राप्त होगा ही वांछा ! तुम्हारी अंतिम इच्छा अवश्य ही पूर्ण होगी। मगर प्रभु इतना कंजूस है, कुछ देने के पूर्व ही मर्म निचोड़कर ले लेता है ! उसके दिए जीवन का, जीवन-व्यापारों का अपमान मत करो बेटी !

' चुपचाप मौन आँसू बहाती रही।' और फिर वे माँ की ओर घूमकर हँसे—'जिसकी शिरा-शिरा में लाल की लाली व्याप्त है, उसके विधवा होने की आशंका किसने दिलाई थी, माँ ? बिटिया का जीवन स्वयं इतना शीतल-सुखद होगा कि इसकी छाया में दो पल बैठनेवाले भी जुड़ाकर ही उठेंगे।'

लेकिन कहाँ जुड़ा पाई मैं ? आयु-पर्यन्त जलती ही रही। फिर यह नवजीवन जो मिला है ?···

मगर तब से जीवन के प्रति जो घोर विरक्ति थी, वह मिट गई। नाना कष्टों में भी तुम्हारी याद ही मेरा अवलम्ब रहा, पुरुषोत्तम ! जीवन का जो विराट रूप मैंने देखा, उसमें तुम्हारी वही तस्वीर ढूँढ़ती रही हूँ।

फिर दूसरे ही महीने जब चिन्मय आए, मैंने उनमें तुम्हारा नवीन रूप देखा। बीच-बीच में जब समाधि-भावना टूटती तो छाती पर लोहे के घन पड़ते। लेकिन मेरे धीरज की बाती अनन्त थी, पुरुषोत्तम, जिसके सहारे ही इस घोर अंधकार में बढ़ती जाती थी।

ठीक दसवें माह में मेरी गोद में जो शिशु आया, लगा बालक बनकर तुमने ही मेरी समस्त वासनाओं को तृप्ति दे दी। ठीक तुम्हारे जैसा ही कुंद-इन्दु वर्ण, प्रशस्त ललाट, काले कुंचित केश और वे ही निविड़ आँखें, वही दृष्टि और वही भाव !

माँ ने देखा तो होंठों में ही हँस पड़ी। श्यामा ने चिकोटी ली—'कभी तो इस देहरी के बाहर नहीं गई, क्या पुरुषोत्तम सपने में आये थे, वांछा ?'

और, लाख-लाख विरोध के बावजूद जब चिन्मय बच्चे के पालने पर झुके, मैंने लक्षित किया, उनकी आँखों से हिंसा की चिनगारी निकल रही है—'इसीलिए 'सतैसा' का बहाना किया जा रहा था ? ठीक बोलो, बच्चा किसके जैसा है ?'

—'तुम जानो !' मैंने शरारत से कहा।

—'और यह हल्की भूरी आँखें ?'

तभी शीला भाभी ने हल्दी लेकर प्रवेश किया। चिन्मय की बात उन्होंने सुन ली थी। हँसते-हँसते ही कहा—'बच्चा चाहे किसीका हो, नाम तो तुम्हारा ही होगा, जमाई बाबू ! तुम्हें तो वांछा को इनाम देना चाहिए।'

—'हूँ, दूँगा।' चिन्मय एक जलती नज़र मुझपर फेंककर

चले गए। तभी निद्रित शिशु होंठों में ही हँस उठा। और उस मर्म-वेधिनी मुस्कान को मृत्यु के हिम शीतल कर भी उन होंठों से पोंछ नहीं पाए। मैंने अंजनहारी की साधना साधी है। मुझे अब कुछ नहीं चाहिए। जीवन की सम्पूर्ण प्राप्ति मुझे मिल गई थी। जीवन के किसी मोड़ पर तो मिलोगे पुरुषोत्तम। मेरे बेटे में अपना बिम्ब निहारकर स्वयं चकित हो जाओगे। कहाँ रहेगा तुम्हारा वह दर्प ? 'जब आया की ज़रूरत होगी खबर कर दूँगा।'

लेकिन मेरा दुर्भाग्य मेरे मन की बात भी सुन रहा था। जाने उतने स्वस्थ शिशु को क्या हो गया। तीन-चार दिन में ही सूखकर काँटा हो गया। निश्चिन्त सोनेवाला बालक जाने किस पीड़ा से रिरिआया करता। कभी उसके होंठ बन्द नहीं होते। जाने कैसी पीड़ा से वह ऐंठा करता ? कैसी प्यास की ज्वाला से बार-बार मुँह खोलता और पानी की घूंटें निगलता था ! इस छटपटाहट के तीसरे दिन माँ ने तेल लगाते समय देखा, उसके मक्खन जैसे पेट, कमर और पीठ पर नीले-नीले दाग उभर आए हैं, जिन्हें छूते ही लगता, उसके प्राण जा रहे हों ! धीरे-धीरे बच्चे की अशक्तता बढ़ती गई। दूध पिलानेवाली दाई हार जाती, वह मुँह नहीं लगाता। अन्य पेय पेट में जाते ही 'कै' बनकर निकल जाते। यह बीस दिन का शिशु क्या समझा करता है ? उसकी करुण-कातर रुदन की भाषा से मर्म टूक-टूक होता, समझ में कुछ नहीं आता।

मुझे तो दूध उतरता ही नहीं, किस प्रकार उसका परितोष करती ? उतरे भी कहाँ से ? चिन्मय ने शिशु-जन्म के पूर्व ही जाने कैसी दवा मुझे खिला दी थी, जिसे खाते ही मेरी छाती सूखने लगी थी। उन्हें बच्चे को मेरा दूध पिलाना पसन्द नहीं था, स्वयं ही जाकर मिल्क फीडर ले आए।

माँ ने तरह-तरह से दूध उतारने का उपाय किया; सारे लक्षण प्रकट होकर भी दूध नहीं आया। आया खूब तेज़ ज्वर जिससे मैं अपने होशोहवास खोकर पड़ी रहती।

माँ के विचार से चिन्मय द्वारा 'सतैसा' में पड़े बालक का विधान तोड़ने के स्वरूप ये उपद्रव थे। पिताजी टोना-टोटका पर विश्वास नहीं

करके भी सिर थामकर बैठ गए—'अपनी बेटी नर-पिशाच के हाथों में दे दी, मालकिन!' माँ को कहे गए उनके ये शब्द अब भी मुझे याद हैं।

चिन्मय पर जैसे भूत सवार था। सभी उनकी झक के आगे शंकित, त्रस्त और परेशान थे। अब एक नई ज़िद सवार हुई—'बच्चे का इलाज उनका अमुक होमियोपैथ मित्र ही करेगा। किसी अन्य की दवा या अन्य डॉक्टर को बच्चा छूने भी नहीं देंगे।'

फिर पिताजी की गंभीर वाणी मैंने सुनी थी—और श्वशुर-दामाद की तनातनी में यही तै पाया कि अपनी-अपनी संतान का दावा ही वे करेंगे—यह भी सुना।

मेरे तेज़ बुखार से और मेरे फैमिली डॉक्टर की छाया से बच्चे को बचाने के लिए चिन्मय मेरे कमरे से लगे दूसरे कमरे में बच्चे को लेकर रहे। लोग हँसा करते, बोली कसते, लेकिन उस वज्र-पाषाण पर सारे तीर टूट जाते।

धीरे-धीरे मैं रोग-मुक्त होने लगी। शिशु को देखने के लिए उस कमरे में जाते ही चीख मारकर बैठ गई—'यह क्या कर रहे हो मेरे बच्चे को ?'

—'इसका उत्तर तो तुम्हीं दे सकती हो।'

—'बच्चा मेरा है।'

—'तुमसे अधिक मेरा है—जाओ कानून की धाराएँ देखो।'

—'वह बाद में होगी। इसका इलाज हमारे फैमिली डॉक्टर ही करेंगे।' और उसे उठाकर मैंने अपनी छाती से लगा लिया। जाने कैसी राहत उस नन्ही-सी जान को मिली, मेरी गोद में आकर चुप हो रहा।

—'वांछा!' उन्होंने मुझसे उसे छीनना चाहा—'इस नन्ही-सी जान से अपने निर्मम खेल मत खेलो। चली जाओ अपने कमरे में। नहीं तो मैं इसे लेकर घर चला जाऊँगा।'

—'तुम्हें क्या हो गया है मेरे स्वामी ?' व्यथातिरेक से मैंने उनके हाथ पकड़ लिए।

—'स्वामी मत कहो, वांछा, यह मायाजाल दूर करो।'

मैं देख रही थी, शिशु विवर्ण हो चुका है। अब उसमें रोने की भी ताकत नहीं थी। उसके प्राण अव्यक्त व्यथा से छटपटाया करते, उसके होंठ दारुण रुदन से खुले रहते, पर शक्ति नहीं थी कि उन्हें व्यक्त कर पाता। नवनीत कोमल तन गलकर अस्थिपंजर हो गया था। कर्पूर जैसा रंग उड़कर गहरी श्यामता में बदल रहा था हाय क्या हो गया भगवान ? मेरी इतनी साधनाओं के शिशु को कौन-सी व्याधि-व्यालिनी डँस गई ?

चिन्मय के लाख-लाख विरोध के बावजूद मैं वहाँ से टली नहीं। मेरा पक्ष लेकर घर के सभी लोगों ने उन्हें भला-बुरा कहा और चिन्मय मान गए। मैं चुपचाप बच्चे की प्रत्येक हरकत देखा करती। तीसरे ही दिन उसकी अवस्था बिगड़ चली। शरीर की सारी छटपटाहट सिमटकर जैसे पलकों में समा गई। रह-रहकर होंठ खुलते और आँखों में सफेद जाली-सी बढ़ने लगी। इसके पूर्व किसीकी मृत्यु नहीं देखी थी मैंने, लेकिन अलक्षित रूप से ही लगा यह श्वेत आवरण ओढ़े जो मेरे बच्चे की आँखों में उतरती आ रही है, निश्चय ही मृत्यु है !

घर-भर पर भावी शोक की छाया पड़ चुकी थी। चिन्मय की आँखें सूजकर लाल हो चुकी थीं। मुँह विवर्ण हो गया था, लेकिन हठ की बागडोर उसी प्रकार तनी रही।

वे होम्योपैथ मित्र निश्चय ही शहर में ख्यात थे, लेकिन चिकित्सा-परिवर्तन में हानि क्या थी ? पिताजी, माँ, सभी समझाकर हार गए, मगर चिन्मय अपनी हठ पर अड़े थे, उन्हें अन्य किसी पर भी विश्वास नहीं है। यहीं तक नहीं, उन्होंने निर्लज्ज की तरह पिताजी के सामने यह भी कहा कि—बच्चा अन्य किसीके जैसा है, इस लाज को छिपाने के लिए ही वे लोग दूसरा डॉक्टर बुलाकर अपनी लाज छिपाना चाहते हैं !

—'छिः !' पिताजी कान पर हाथ रखकर चले गए। अन्त में रात भीगने पर चिन्मय ने कातरता से मेरे हाथ पकड़ लिए—'वांछा, तुम जो भजन गाया करती हो, सच्ची निष्ठा से एक बार गाओ। मुझसे इसका कष्ट नहीं देखा जाता। संगीत में बड़ी शक्ति है वांछा, निष्ठा से गाओगी तो संभव है यह रोग-मुक्त भी हो जाए।'

मेरे प्राण उमड़े आ रहे थे। कांपते हाथों से बच्चे को उठाकर छाती से लगाया और बड़े ही करुण कातर स्वर से गाया—दीनानाथ, दुख-भंजन, पद्मनाभ, पुरुषोत्तम ! लेकिन यह कैसी विडंबना थी, मैं भगवान की मूर्ति का ध्यान करना चाहती थी तो तुम्हारी हँसती-सी मूर्ति मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती। लगता तुम विद्रूप कर रहे हो—देखा मुझे किसी प्रकार भी नहीं बाँध पाई न ?

आँसू में धीरज का बांध टूट गया था। पुरुषोत्तम, मैं हार गई। बड़े यत्न से तुम्हें पाया था; यह सुख मत छीनो निष्ठुर ! पता नहीं तुमने सुना या नहीं, लेकिन क्रूर नियति सब कुछ सुनकर भी मेरा वह शेष संबल मेरी गाँठ से चुरा ले गई।

और उसी रात मात्र सोलह वसंतोंवाली तरुणी पुत्रहीना जननी बनी शिशु से सूनी खाट पर बिलख रही थी। चिन्मय की एक नई परत और खुली। बड़ी विचित्र हँसी हँसते हुए उसने मेरा हाथ खींचा—'तुम बच्चे को रो रही हो वांछा ? मत रोओ, तुम्हें न रोते देख सकता हूं न चूजों से घिरी मुर्गी की तरह। तुम्हें तो चिर युवती 'कविप्रिया' बनी रहना है, रानी। अभी बच्चे की आवश्यकता ही क्या थी ? जाने कितने बच्चे तुम्हें होंगे।'

बात बड़ी मार्मिक लगी। घृणा से आरक्त नेत्रों को उठाकर कहा—'मुझे तुम्हारा आश्वासन नहीं चाहिए, जाओ।'

और कुचले साँप की तरह वह फुंकार उठा—'क्या समझती हो, मैं तुम्हारे बिना मरा जा रहा हूँ ? तुम्हारी जैसी हजारों हैं।'

—'फिर यहाँ आए ही क्यों ?'

—'तुम्हारा मान-मर्दन करने ? कार्टून बनानेवाली का जीवन कार्टून बना देने और तुम्हारी मिट्टी-पलीद करने ! बड़ी तेजस्विता है न तुममें ?'

फिर तो जीवन-यमुना में इतनी दाह उठी, कालीय नाग का विष इतना उफना कि चाहकर भी अमृत की एक बूंद नहीं बना सकी।

फिर धींगा-मुश्ती, छीना-झपटी, मारपीट की झाड़ियों से जीवन का प्रवाह घुमड़-घुमड़कर राह बनाता रहा, कहीं समतल नहीं मिला, कहीं छाया की शीतलता और विश्राम का स्नेह नहीं मिला।

कई वच्चे भी आए, मगर फिर वह एकाग्र निष्ठा, वह अंजनहारी साधना नहीं हो पाई। जीवन को मैंने स्वीकार लिया और यह भूल गई कि कोई 'वांछा' नाम की अल्हड़ किशोरी भी इस अकाल जराजीर्ण काया में निवास करती थी। लेकिन जहाँ कहीं भी उच्च कंठ का मुक्त-हास्य सुन पड़ता, पाँव रुक जाते। बहुत दिन पहले एक झलक-भर देखी छवि का भ्रम जहाँ भी होता, कुछ ढूंढ़ने का प्रयास करती। वह छवि जो अन्य कई तस्वीरों से भिन्न थी और जो संध्या के धुंधलके को भेदकर भी मेरे प्राणों में बस गई थी!

जिस दिन बिहारी चाचा से मिलने तुम अंतिम बार गाँव आए थे और तुम्हारा प्रेम-संदेश शीला भाभी के द्वारा मुझे मालूम हुआ था, श्यामा के संग बिहारी चाचा के बुलावे का बहाना कर शीला भाभी ने कुछ और ही रचा था! फुलवारी में जहाँ बताया गया था कि बिहारी चाचा हैं, झपटती हुई मैं वहीं गई और देखा तुम तेजी से इसी ओर बढ़ते आ रहे हो!

क्षण-भर को तुम भी रुके और मेरे तो जैसे पाँव ही बँध गए। लेकिन दूसरी बार जब दृष्टि-विनिमय हुआ, लगा मुझे कोई बिजली-सी छू गई और मैं हरिणी की तरह कुलांचें भरती भागी। भूल गई कि किसीकी दृष्टि मेरा पीछा कर रही है। भूल गई कि किसीने मुझे पुकारा था—'वांछा!' मुझे क्या हो गया था, पुरुषोत्तम!···लेकिन वह 'वांछा' तो मर चुकी। और पता नहीं, वांछा के शव में, अरमानों के इस मरघट में पुरुषोत्तम-सा वामयोगी किस प्रकार जाग रहा है।

किसीसे तुम्हारी सुख-सौविध्य की कहानी सुनती, तुम्हारी उन्नति और यश की गाथा सुनती, लगता मुझे ही वह सुख प्राप्त हो रहा है। मगर वास्तव में मेरा जीवन क्या था? यह मानकर कि जीवन में कोरी भावुकता का कोई स्थान नहीं है, मेरी कवयित्री ठोस धरती के धरातल पर उतर आई थी और जीवन-जीविका की समस्या के हल के लिए मैंने अपने को खादी-भंडार के सिल्क और वूलेन काउंटर पर खड़ी पाया।

कवि-सम्मेलनों और रेडियो-प्रोग्राम के भरोसे न किसी साहित्य-सेवी का पेट चल सकता है, न साहित्य साधना ही। यह तो एक युगल-

मात्र है। फिर चार-चार प्राणियों के जहाँ जीने का प्रश्न था, उसे अनसुना कैसे कर पाती ? कवि चिन्मय को भी कोई आपत्ति नहीं हुई, क्योंकि भंडार में कई रिश्तेदारों का साझा था।

कवि चिरयुवक, सौंदर्यरसिक और सर्वग्रासी होते हैं। उनका यौवन नित्य नये चढ़ावों को टपा करता है लेकिन मैंने अपने को उन सीढ़ियों से सर्वदा उतरते ही पाया ! मेरे सामने बड़ा मानसिक द्वन्द्व, बड़ा संघर्ष था जो काउंटर पर खड़ी होनेवाली प्रायः सभी औरतें झेलती हैं ! सुरुचिपूर्ण सज्जा, यौवनोचित स्फूर्ति, निरन्तर सजगता, सदाबहार मुस्कान और प्रस्तरी नारी-मूर्ति की सहनशीलता ही उनकी कार्य-क्षमता के मापदंड हैं। मेरे ऊपर दुहरी मार-सी पड़ा करती। मगर चारा क्या था, पुरुषोत्तम ? किसी दिन स्त्री बच्चों के साथ मेरी दयनीय दशा पर हँस भी गए, लेकिन तुम्हारी आँखों में वह आग होती तो देख पाते, मैं तुमसे अधिक बहादुर हूँ। तुमसे अधिक सशक्त और निष्ठुर हूँ। तुमने मेरे साथ निष्ठुरता की, मैंने स्वयं अपने को निर्दयता से मारा है। नारी शक्ति होती है ! कभी-कभी चिन्मय भी यही कहते हैं। हँसी आती है, सारी चिन्ताओं से मुक्त, महीनों कवि सम्मेलन, प्रकाशन अथवा भ्रमण के बहाने जो व्यक्ति घर से दूर रहता, जब कभी पत्र आते, रुपयों की माँग से ही, अथवा किसी विपत्ति में पड़ने की सूचना-भर ही। रुपये भेजती तो लौटने पर कुशल रहता, वरना जो मिट्टी-पलीद होती, सारा मुहल्ला ऊब जाता !

नारी शक्ति होती है, दूसरों के लिए कितनी यह नहीं जानती, मगर अपने लिए तो यही सत्य है पुरुषोत्तम, तुम्हारी याद की शक्ति नहीं रह जाती तो यह 'बांझा' कहाँ होती !

और जीवन-स्तर से गिरते-गिरते मैंने अपने परिवार को उन लोगों के बीच पाया, जहाँ चारों ओर पौ फटते ही कुहराम मच जाता। चारों ओर गंदगी के ढेर, गाली-गलौज और असभ्रता का बाजार। सुअरों के गिरोह के पास आदमी उसी भाँति पड़े रहते—गंदे, बेमानी और अचेत ! जैसे मानव और पशु में कोई भेद नहीं। सारा दिन रोती रही और उस उजड़े घर के बचे दो कमरों की सफाई करती रही।···क्या इसी दिन

के लिए कुमारी वांछा ने उतने कीमती पर्दे, टेबल-क्लाथ और अन्य सामान संजोये थे ! ओह, कान्त भैया को पा जाती तो इन्हीं हाथों उनका गला घोंट देती— 'तुम्हारा दाम्पत्य यदि दुखी हुआ तो संसार का कोई दंपति सुखी नहीं होगा वांछा।'

'तो क्या वांछा की तरह तुम भी छले गए कान्त भैया ?'

धीरे-धीरे सब कुछ सहने की आदत पड़ गई और मैंने पाया, यहाँ किसीको किसीकी चिन्ता नहीं है। उन अधनंगों के बीच ही अपनी संपन्नता का बोध हुआ। यहाँ चिन्मय की चीख-पुकार पर किसीकी उँगली नहीं उठती। जितना चाहो जीवन को तोड़-मरोड़ सकने की सुविधा थी यहाँ। यहाँ प्रतिष्ठा की चादर ओढ़ने की वस्तु थी, जो सिर्फ इस घेरे के बाहर ही मैली प्रतीत होती।

सबसे संतोष तो तब होता जब यहाँ लोगों के साफ-सुथरे बच्चों को देखकर दर्द नहीं उठता। वे मैले चीथड़ों में सड़क की धूल में लोटा करते; मेरा विजय फटे लेकिन साफ वस्त्रों में स्कूल जाता। इतना होने पर भी जहाँ चिन्मय को उनके बीच उठने-बैठने में बाधा नहीं होती अपने और विजय के साथ मैंने उन लोगों से एक अलगाव सदा ही बनाए रखा। काम पर जाते समय अपनी साफ साड़ी को बचाए विजय की उंगली थामे मैं तेजी से भागकर बाहर आकर मुक्ति की सांस लेती। लौटती बार उतने ही भारी कदम पड़ते। लगता कहीं ऊँचे से पटक दी गई होऊं।

कोई पहचान का मिलता तो मुंह फेर लेती। कोई मिलता भी तो पहले नहीं पहचानने का बहाना कर टाल देती। अन्त में तो दिन-रात के देखे गए उन गंदे चेहरों के सिवा अन्य कोई मुंह मैं शायद ही चीन्ह पाती होऊं।

काउंटर पर अपनी झुकी आँखें और सजग मुद्रा लिए मैं हमेशा ही सतर्क, सावधान रहती; कोई ऐसी भूल नहीं हो कि मृत वांछा फिर जी उठे।

पूजा के अवसर पर विशेष छूट होने से भीड़ बढ़ जाती है। हमारे काउंटर पर भी, जहाँ अपेक्षाकृत कम खरीदार रहते हैं, उस दिन रेल-

पेल थी।

कई छोटे-छोटे बच्चों के साथ एक दंपति काउंटर पर आया। सुन्दर गोरे-गोरे शिशु-मुंह। उनमें एक बालिका की आंखें देखते ही कहीं कुछ छू गया! ठीक वही मुंह, वही आँखें और चकित दृष्टि थी, जिसे वर्षों पहले अपनी गोद से खो चुकी थी! आह, जीवित रहता तो वह भी इतना ही सुन्दर होता! मन जाने कैसा हो उठा! और वह महिला कभी अपने पति को, कभी मुझे, बारी-बारी से बड़ी ही गर्वोद्दीप्त दृष्टि से घूर रही थी—होंठों में बंकिम मुस्कान की रेखाएं जैसे तीर की तरह मेरे मर्म को छूतीं और लौट जातीं। जाने क्यों भयंकर ईर्ष्या का उद्रेक हुआ और वह स्थान छोड़कर परे हट गई। लेकिन पति महोदय चाहे जिस कोने में जाते, लगता मेरी ही ओर देखे जा रहे हैं। आँखें बार-बार टकरातीं।

उस दिन बहुत अनमनी-सी घर लौटी। कई दिनों तक वह अव्यक्त बेकली रही।

अचानक गर्मियों में जब ऊनी कपड़ों के काउंटर पर मसलिन (बारीक खादी), ढाका और तंजेब की थानें भर उठती हैं, एक ग्राहक ने पशमीने का थान देखने की माँग की।

स्मृति ने टटोलकर कहा—शायद उसी गर्वीली, गुमान-भरी युवती के पति हों। मगर प्राणों में कुछ और गहरे चिह्न उभर रहे थे। पलकें उठाकर देखा—होंठों में पूर्वपरिचय की आत्मीय मुस्कान लिए आगंतुक बड़ी ही तीक्ष्ण दृष्टि से मुझे देख रहा है।

—'कुछ पशमीना दिखलाएंगी ?'

मैंने फिर व्यक्ति की आंखों में झांका, पागलपन का कोई लक्षण नहीं था, संभवतः कोई ऐसी जरूरत ही हो।

—'कोई आपत्ति है क्या ?'

—'जी नहीं। केवल स्टॉक सिल तोड़ने की बात है, जो दो-चार थानों के लिए मुश्किल होती है।'

—'तोड़वाइये सिल, सभी ले लूंगा।'

चकित-सी व्यक्ति को देखती रह जाती हूं। जाने किन आवर्तों से उभरकर वह मुंह क्रम से स्पष्ट होता जा रहा है। उस दृष्टि में जाने

कैसा बंधन है कि प्राण कसते जा रहे हैं। शिराएं अवश होती जा रही हैं। आगंतुक खीझ उठता है—'स्पष्ट हां या ना कीजिए। मैंने बहुत पैसे कमाए हैं, सबकी सब खरीद सकता हूं।'

—'कोई बात नहीं !' जाने कैसे मुंह से निकल आता है और मैं पशमीने की अलमारियों की ओर बढ़ जाती हूं। वे काउंटर के भीतर घुस आए हैं। एक अनजान ग्राहक, जाने क्यों मन में कैसा द्वन्द्व मचा है। वे बार-बार समीप आने की उतावली करते हैं। मैं एक सम्मान-पूर्ण दूरी की रक्षा कर रही हूं। कई बार हाथ पर, कंधों पर हल्का-सा स्पर्श होता है तो रोमांच के अंकुर उग आते हैं।...ओ मेरे अन्तर्यामी ! यह कैसी घोर परीक्षा ले रहे हो ! क्यों इस अनजान अपरिचित के प्रति मन कातर हो उठा है ! क्या कहना चाहती हूँ कि कंठ में काँटे उठे आ रहे हैं ? क्या ढूंढ़ना चाहती हूं जो याद नहीं आ रहा है ? कौन है यह ?

सहसा ग्राहक के जुड़े हाथों पर दृष्टि जाती है—

—'जाता हूं !' जाने क्यों स्वर काँप रहा था।

देखती हूं सामने की दोनों अलमारियाँ खाली हो गई हैं। पूरे पाँच हजार की चीजें खरीदनेवाला यह ग्राहक कौन है ?

भंडार के नियमानुसार विशेष ग्राहकों के परामर्श, मांग अथवा पते के लिए प्रत्येक काउंटर पर एक पुस्तिका रखी है। मैंने आगंतुक के आगे एक पृष्ठ खोल दिया—'साइन कीजिए।' जाने क्यों मेरी जुबान जैसे ऐंठती जा रही है ! लगता है चक्कर आ जाएगा। घूमकर अल-मारी का सहारा ले लिया है कि भारी बूटों की चाप से चेतना लौटती है—वे तेजी से बाहर निकल गए। साथ का चपरासी जैसा व्यक्ति दूसरे काउंटर पर से सामान उठवा रहा है।

दूसरे काउंटर के सहकर्मी मेरी ओर हैरत से देख रहे हैं। अनायास ही उस उड़ते पृष्ठ पर दृष्टि जाती है। समूचा पृष्ठ कोरा है। एक कोने में स्पष्ट अक्षरों में लिखा एक छोटा-सा कार्ड पड़ा है, जिसे इसी क्षण, यहीं लिखा गया है :

१० थान पशमीना+पट्टू १३ थान

१० थान मसलिन=कुल ३३ थान

काउंटर नं० ६,
अजित पुरुषोत्तम ।

मेरे हाथ से शीशे की अलमारी का वह विभाजक पल्ला जो पर-मीने के स्थान को अलग करता है, छूटकर गिर गया। सारी इमारत में एक टूटी-सी दीर्घ झंकार काँप उठी। लगा जैसे मैं बेहोश हो जाऊँगी। मैनेजर तक आए। हजारों की आय हो गई थी, तभी कुछ रुपयों का शीशा टूटने पर उनकी भंवों के बल होंठों तक नहीं उतरे। मुझसे खड़ा नहीं रहा गया। सबकी दृष्टि बचाकर वह कार्ड अपने साथ लेकर आँधी की तरह घर आकर पड़ी रहती हूं। रोशनी जलाने की भी सुध नहीं रहती है।

मन में जाने कैसे शूल चुभा करते हैं। घर में रहती तो—खोई-खोई। काउंटर पर जाती तो सदा की झुकी निगाहें बरबस उड़-उड़कर द्वार पर, अन्य काउंटरों पर कुछ खोजा करतीं। कभी-कभी ऐसा होता, मैं देखती होकर भी नहीं देखा करती। बात सुनती हुई भी नहीं सुना करती।

बूढ़े मैनेजर तक घनी मूछों में हंसते। उन्हींसे सुना, मेरी तरक्की होनेवाली है। शहर के प्रमुख केन्द्र में वेतन-वृद्धि के साथ मैं भेजी जा रही हूं, तो मैंने मिन्नत की कि मुझे इसी स्थान पर रहने दिया जाए। जाने क्यों वह काउंटर ही मेरा देवालय हो गया। कवि चिन्मय कई महीनों के प्रवास से लौटकर आए हैं। उनकी नई पुस्तक छपी है—'हँसी की किश्तें'। मेरे लिए एक प्रति अलग है। लेकिन मैं अनमनी-सी उठाकर रख देती हूँ—मेरे लिए तो मात्र आँसुओं की ही किश्तें हैं! जानती हूँ इस प्यार-प्रदर्शन का अपना अर्थ है, जिसे मैं पूरा नहीं कर सकती। उन्हें पैसे की आवश्यकता है। किताब में जिल्द लगानी है। मैं कुछ नहीं जानती हूं। वे इम्पोरियम भी हो आये हैं। बड़ी मधुरता से पूछते हैं—'उस दिन काउंटर पर कौन हजारों के माल ले गया, वांछा?' बहुत दिनों पर 'वांछा' संबोधन सुना है। पर मन के तने तारों पर कोई राग नहीं बजता। बेसुरी आवाज निकली है—'पुरुषोत्तम के सिवा और कौन हो सकता है?'

—'अभी भी तुम्हें नहीं भूला है। वाह, बड़ी गहरी प्रीत है।'

—'हूँ।'

—'मुझे दो सौ रुपये कल चाहिए। किताब में आवरण पृष्ठ लगाए बिना कैसे काम चलेगा ?'

—'तो मैं कहाँ से दूँ ?'

—'वाह, यह भी मुझसे ही पूछती हो ? जहाँ से खादी भंडार को पाँच-छः हजार क्षण-भर में ही दिला सकती हो, वहाँ क्या दो सौ के लाले हैं ?'

—'चुप रहो। लाज भी नहीं आती तुम्हें ? मुझे पता नहीं था इतने पशु हो गए हो तुम। छिः !'

चिन्मय क्षण-भर स्तब्ध होकर मेरी ओर ताकते रहे और फिर साम-दाम-दंड-भेद सभी नीतियों से हार गए तो जो अंजाम हुआ—सबके सामने है।

लेकिन सुना है, उसने कहा है—'मुझे फँसाने के लिए तरकारी बनाने की छुरी उसने स्वयं ही पेट में भोंक ली।' उन्होंने तो घबराहट में मुझे बचाने के ख्याल से छुरी खींच ली थी।

आह, आदमी के कितने रूप हैं ? कितनी परतें हैं जीवन की ? कहाँ गई जीवन की अंजनहारी साधना ?

एक माह से ऊपर हो गया। अस्पताल के सर्जिकल वार्ड में पड़ी हूँ। मुझसे तरह-तरह के सवाल पूछे जाते हैं। एक तरफ प्रतिशोध की ज्वाला है, तो दूसरी ओर सामाजिकता का पाखंड। एक ओर वृद्ध पिता की भरी-भरी आँखें हैं, विजय का भविष्य है, दूसरी ओर कौरव सेना की तरह चिन्मय के मित्र और आत्मीय जन।

पिताजी कहते हैं, अन्याय-अत्याचार को प्रश्रय देना घोर पाप है। वे सब कहते हैं—शिव की तरह जहर पीना ही जीवन का साफल्य है।

सुना है, चिन्मय ने मुझपर कुलटा होने का आरोप किया है। पुरुषोत्तम, तुम तो साक्षी हो मेरे ?

आज पिताजी के साथ विजय आया था। कितना सुदर्शन रूप है उसका ! आज ही देखा— व्यक्तित्व को उभारने में परिधान, प्यार और

आत्मविश्वास का सबसे बड़ा हाथ है।

कितने आत्मविश्वास से विजय बोला—'माँ, अन्याय को प्रश्रय देनेवाला ही दोषी है, जानती हो? अपने सारे भय उतार फेंको माँ! अब हमलोग नाना जी के पास रहेंगे। अच्छे साफ कपड़े पहनेंगे। अपना घर होगा और अच्छे स्कूल में पढ़ेंगे। उस गंदे घर में गंदे स्कूल के गंदे बच्चों के साथ बैठने में अच्छा नहीं लगता। माँ, नानाजी हमें प्यार करेंगे। अब पापा के साथ रहेंगे तो वे हम सबको मार डालेंगे।'

आह, मेरा सिर घूम रहा है। भारतीय जीवन का सच्चा चित्र और कहाँ है? नहीं, नहीं, वह तो आरंभ से ही 'तमसोमा ज्योतिर्गमय, असतोमा सद्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय' ही रहा है। विजय आज मुझसे वही पथ-संधान माँग रहा है।

मेरे घाव भर गए हैं। टाँके कट गए। अब कल न्यायालय में मुझे उपस्थित होना है। चिन्मय, पिताजी, मैं और विजय सभी वहाँ रहेंगे। जाने कितने परिचित-अपरिचित व्यक्ति वहाँ होंगे? कैसे मुँह उठा सकूँगी?

आह, पुरुषोत्तम, एक दिन अपना न्याय तुम्हारे हाथों सौंपा था, अपनी सीमा में बाँधकर फिर चाहे जो भी सजा दे लेते—तो यह दिन नहीं आता। मगर तुम जाने कहाँ होगे?

इच्छा होती है, कंठ खोलकर गाऊँ—दीनानाथ, दुखभंजन, पद्मनाभ, पुरुषोत्तम···

लेकिन पेट में जहाँ टाँके का जख्म है, दर्द होता है। जोर से बोलना मना है।···लगता है मेरा बुलावा आ गया है। हमेशा ही ऐसे सपने आते हैं। भगवान, दुखियों के भगवान, बस, इतनी-सी माँग पूरी कर दो, मैं उन्हें एक बार भर आँखों देख लूँ। शक्ति-भर कंठ खोलकर उन्हें पुकारूँ कि घाव खुल जाए और मेरे प्राण-पखेरू उन्हींके चरणों पर लोटकर उड़ जाए।

तब मेरे नाम पर तुम्हारे दो बूँद आँसू तो ढुलकेंगे ही, पुरुषोत्तम! वज्रपाषाण को भेदकर जो बूँदें गिरेंगी, उन्हें पीकर, मेरी समस्त अतृप्ति, संपूर्ण वासनाएँ तृप्त हो जाएँगी। क्या तुम कभी जान सकोगे, 'वांछा' मात्र तुम्हारी ही थी?



दूसरी परत | चिन्मय

खूनी हवालात

वांछा मेरी पत्नी है। कानून के द्वारा जिन सामाजिक अधिकारों का अधिकारी हूँ, वही मेरा बंधन बन गया। क्यों? इसलिए कि वांछा मेरी पत्नी है? नहीं, कानून ने मुझे जो अधिकार दिए, उनके साथ कुछ शर्तें भी थीं, जिनका पालन करने पर ही मैं उसका अधिकारी था।

लेकिन वांछा ने कभी भी अपने प्रति किए गए अत्याचारों का कोई विरोध नहीं किया। एक तरह से उसकी निरीहता ही मेरे प्रोत्साहन का कारण बनी।

कष्ट सहने में जाने कैसी तृप्ति उसे होती थी। आँखें बन्द किए,

निःशब्द आँसू बहाती हुई, उसे कोने में खड़ी कर मैंने कई बार अपनी संपूर्ण क्रूर पशुता का प्रदर्शन किया है। चोट के निशानों से रक्त निकल आया है, लेकिन उन बन्द पलकों में, कसकर दबाए गए होंठों में परि-तृप्ति की जो झलक दिखती, उससे मेरी आग और भी भड़क उठती।

बस, वांछा निरीह बछिया है! और, पशु के साथ पशुता की ही भाषा बोली जाती है।

उसके कमरे में बुद्ध, ईसा और गाँधी की तस्वीरें टँगी रहती हैं। मैं इनमें से किसीको पसंद नहीं करता। बात यहीं तक नहीं थी। हनुमान की मूर्ति के सामने घंटों आँखें बन्द किए बैठी रहनेवाली स्त्री, जिसका पति अपने मित्र के साथ द्वार पर खड़ा उसके जगने की प्रतीक्षा कर रहा हो, निरी पाखंडिनी नहीं तो और क्या है?

मित्र ने क्षुब्ध होकर कहा था—'मीराबाई तो तुम्हारे घर में ही हैं। लो, तुम करताल बजाओ, मैं चला।' तो तन-मन में आग-सी लग जाती।

दो-तीन बार पुकारने के बाद भी जब उसकी समाधि नहीं टूटी तो मैंने उसकी लंबी चोटी पकड़कर खींची। पर, लगता था वह पत्थर की मूरत हो गई है। मुझे ये वाहियात अदाएँ बिल्कुल नापसन्द हैं। उसी तरह चोटी पकड़कर समूचे कमरे में कई बार चक्कर लगाया, उसकी आंखें नहीं खुलीं। अंत में मित्र को दया आ गई, उसने ही छुड़ा दिया।

क्लब में जाकर उमेश ने मेरी जो खिल्ली उड़ाई, कभी नहीं भूल सकता। दोस्तों के बीच मैं बुज़दिल, कमज़ोर और स्त्रैण साबित हुआ, जिसकी पत्नी स्वयं पति को छोड़कर मिट्टी और पत्थरों के आगे सिर पटका करती है।

ऐसी पशु, गँवार और जाहिल औरत के साथ जीवन कैसे निभ सकता है! उसे कोई रोशनी की झलक-मात्र नहीं दिखी है। तुलसीदास ने भी लिखा है:

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी
सकल ताड़ना के अधिकारी।

सम्पूर्ण रामायण में कुछ ही ऐसे स्थल हैं जो मनोविज्ञान की कसौटी

पर सही उतरते हों। रावण जैसे ज्ञानी को कहना पड़ा :

नारि स्वभाव, सत्य कवि कहहीं
अवगुण आठ सदा उर रहहीं।

लेकिन यह समय रामायण की विवेचना का नहीं है, वरन् अपना बचाव और निर्दोषिता प्रमाणित करनेवाले तथ्यों को एकत्र करने का है।

कल अदालत में मेरी पेशी होगी। सुनता हूँ, अस्पताल में वांछा भी अच्छी हो चुकी है। मगर उसके पिता और सगे-सम्बन्धियों ने ऐसा घेरा डाला है कि अपने वकीलों और सम्बन्धियों का वहाँ पहुँचना ही कठिन है।

इस बार बच जाऊँ, फिर बता दूँ कि मेरा नाम भी चिन्मय है। कल सभी लोग जान जाएँगे। जान तो सब गए ही हैं। लेकिन कल से अदालत में वह तमाशा मचेगा कि वर्षों तक लोगों की कहानी बन जाएगी।

कल मेरा बच्चा, वांछा मेरी पत्नी—जिसे एक दिन परिणीता बनाकर समझा था, साम्राज्य जीत लिया (मैंने उसीकी यह दुर्गति की)—मेरे अधिकांश सम्बन्धी सभी मेरे विरुद्ध मेरे काले पर्दे को उघाड़-उघाड़कर कहेंगे! सभी देखेंगे मैं यह हूँ! फिर भी मैं चाहता हूँ, इस बार बच जाऊँ? क्यों? क्या मैं मृत्यु से डरता हूँ? नहीं, मैं मृत्यु से घृणा करता हूँ। मृत्यु पर विजय प्राप्त करना ही मनुष्य के ध्येय का चरम है।

मनुष्य अपने यशःकाय से ही चिरजीवी होता है। और उस अमृत-तत्त्व, यशःकाय के निमित्त ही मैंने वांछा का वरण किया था।

कितने प्रयत्न, कितने कौशल और श्रम से एकाएक क्षितिज-छोर से उगकर सम्पूर्ण नभ पर छा जानेवाली तारिका को अपने केन्द्र में बांधा था। वही मेरे लिए उल्का, अंगारिका बन गई।

क्या मैंने एक क्षण के लिए भी वांछा को प्राप्त किया? कभी नहीं। एक क्षण के लिए भी वह मेरी नहीं हुई!

मैंने स्वयं अनेक से प्रेम किया है। नारी-रूप के विभिन्न प्रकारों को मैंने आकंठ भोगा है। लेकिन ऐसी हार मुझे कहीं नहीं मिली। यह साधारण नारी!

मैंने उसे जीवन के उद्दाम वेग से बाँधा और उससे मुझे शव की

निष्प्राणता, विरक्ति और अन्यमनस्कता ही मिली। मैंने पाया—प्रेम-प्रतिक्रियाहीन, काठ या ठंडी शिला-भर ही है वह। मैंने इधर से आँखें फेर लीं।

लगता है, जीवन के इन सारे व्यापारों से दूर उसकी चेतना किसी दूसरे लोक में ही विहार करती है—जिसे न मेरे प्यार की ख्वाहिश है न नफरत का मलाल !

मुझे घृणा होने लगी और यही घृणा अवहेलना और हिंसा बन गई। सभी कहते हैं, घृणा प्रेम का ही रूपान्तर है, लेकिन वांछा को मैंने (स्वयं भी) प्यार कब किया ? उसने अवसर ही कब दिया ? सुहागरात में ही जीवन्त, मांसल और तरंगित प्यार से उसकी ओर झुका, तभी उसने जैसे तड़पकर कहा था—'मैं देवता पर चढ़ा हुआ निर्माल्य हूं। किसीको निछावर हो चुकी हूँ। मैं आपके योग्य नहीं हूँ।' मासूम-सी दिखनेवाली इस बच्ची के मुँह से यह सब सुनकर मैं स्तब्ध रह गया।

ठीक ये ही शब्द उसने अपने पत्र में ब्याह के बहुत पहले लिख भेजा था, जब उसके व्यंगचित्र पर मैंने खुलकर उससे प्रेम-निवेदन किया था। उसी दिन समझ पाता ! मित्रों ने बढ़ावा दिया था—'यह भी एक अदा है और वही फल अधिक मीठा होता है, जो जूठा होता है !'

मगर वांछा, वह अनाघ्रात कलिका, जो किसी पापी भौंरे के गुन-गुन की स्पर्श से ही अपने को जूठी समझने लगी थी ! इससे परे जो कुछ था, उसपर निर्दय पुरुषोत्तम का अधिकार था। शरीर के आवरण को कठोर साधना और प्रताड़ना की अग्नि में जलाकर अन्तस् का पिघला नवनीत उसने सदा पुरुषोत्तम को ही निवेदित किया, लाख चेष्टा करने पर भी नहीं ढली।

स्वार्थी कान्त को वह पंक्तियां दिखलाईं तो उसने भी मुझे धोखे में रखा। बोला—'यह उसका भ्रम है, पुरुषोत्तम उससे ब्याह करेगा ही नहीं, न चाचा ही ब्याह करेंगे।'

शायद कान्त को भय था, वांछा के साथ ब्याह नहीं होने से उसकी नौकरी जाती रहेगी। अथवा वही ऐसी गूढ़ पहेलिका है, जिसे कोई नहीं

बूझ पाया ?

मैंने इसी आशंका से वांछा से स्वयं मिलकर बातें करने की इच्छा प्रकट की थी। कान्त ने इसे भी अस्वीकार कर दिया कि न चाचा इसे पसन्द करेंगे न और कोई ही। फिर भी दूर से छिपकर मैंने वांछा को देख लिया था। ऊपर का स्वरूप जिसका स्निग्ध चांदनी जैसा था, भीतर से ऐसी बाड़व की ज्वाला है, यह तभी जान पाया जब सुहागरात में ही उसके उक्त कथन ने मुझे झकझोर डाला।

कान्त को साल-भर पूर्व से ही अपने सारे कर्मों का लेखा उन पत्रों में दे चुका था और प्रति बार यह चेतावनी दे दिया करता कि वांछा को स्वयं ही इन बातों से अवगत होकर सहमत होना है। कान्त ने दुहरा छल किया। मुझे तो धोखे में रखा ही, वांछा को भी बहलाए रहा। मेरा विश्वास आरंभ से ही रहा है, या तो कान्त स्वयं उसके प्रति असफल आकृष्ट रहा या कोई अन्य भयंकर प्रतिशोध से प्रेरित होकर ऐसा कर रहा है। मित्रों ने तो यहाँ तक आशंका प्रकट की थी कि लड़की में ही कुछ ऐसा खोट है, जिसका मार्जन नहीं हो सकता।

वांछा के कथन ने मुझे सोचने को विवश किया था। मेरी हिम्मत नहीं हुई उसे छेड़ सकूं। पर जाने क्यों उसके उसी भोलेपन पर बिक गया। आज तक मेरे संपर्क में आनेवाली स्त्रियों ने स्वयं ही समर्पण किया था, इसने तो विरोध ही नहीं, स्पष्टतः अपने प्रेमी के सम्बन्ध में बताकर अपने प्रति मेरी घृणा का मोल किया था !

मैंने कहा था—'लेकिन अब तो यह निर्माल्य मेरा है ! आओ मैं तुमपर स्वयं अपने को निछावर कर दूँ।'

निःशब्द आँसू रोती हुई वह बोली—'आपकी डायरी मैंने पढ़ी है ! उसमें आपकी अनेक प्रेमिकाओं की चर्चा जानकर ही मैं आपके चरणों पर झुकी हूँ। मैं आपकी सभी सेवाएँ करूंगी, लेकिन इतनी दया कीजिए ! आपको किसी प्रकार बाधा नहीं दूँगी। आप मेरी पूजा की मर्यादा को निभा दीजिए !'

और बिछावन से दूर, कुश की चटाई पर बैठी, निराभरण, पीत-वस्त्रा कुमारी को मैं एकटक देखता ही रह गया। तरंगें जब वापस

लौटती हैं तो तट को कुछ गँदला भी कर जाती हैं, मैंने भी वांछा को कुछ कटु शब्द कहे जो नहीं कहने चाहिए थे—कम से कम सुहागरात में तो अवश्य ही नहीं। यह उसके नहीं बोलने का आक्रोश था अवश्य, पर जो बात निकली थी, वह असत्य भी तो नहीं थी ! इसीपर उसने रोना आरंभ किया था। सभी कहते हैं—जीवन के संपूर्ण राजपथ पर सुहागरात की कटुता अथवा मृदुता की छाया बनी रहती है। हमारी सुहागरात में ही जो कलह का सूत्रपात हुआ, समस्त जीवन उसीसे भर उठा।

लेकिन वांछा की स्पष्टोक्ति से मैंने सोचा—चलो, यहां भी पूर्ण भाग्यशाली हूं। खूंटे से बँधी बछिया जाएगी कहां ? इस प्रकार अपनी खंडिता नायिका श्यामा को, जिसकी आँखों में कई बार खुला आमंत्रण मुझे मिला था, प्राप्त कर लूंगा। इस गँवई सरोवर में कितने सुरूप-कमल खिले थे ! मुझे लगा, वांछा की यह बहक मुझे उनका रस और मधुदान लेने में बाधा नहीं बनेगी।

मैंने फिर जानबूझकर ही उसका स्पर्श नहीं किया। शीला भाभी कह गई थीं—उसकी पंखुरियां स्वभावतः ही खिलने दूं। मैंने निश्चय किया—इन पीत पंखुरियों में लिपटा यह गुलाबी मुँह, यह नाजुक उम्र और अविकसित पुष्प-पराग को जगाकर ही मेरे प्राणों का रस-लुब्ध भ्रमर स्वप्नों का मधुचक्र रच सकेगा। तब कितनी मृदु, मोहक और प्रिय लगी थी वांछा, जैसे विधाता ने सिर्फ प्यार करने के लिए ही पैदा किया हो ! हाय, कैसा अभागा था वह व्यक्ति, जिसने इसकी इच्छाओं का अपमान किया।

मेरे साथ जितने मित्रों के ब्याह हुए थे, उनके छलकते प्रेमपत्रों से, उनकी रससिक्त रातों की प्रेम-कथाओं से मेरी रिक्तता मुझमें चिकोटी भरती। अक्सर सारी-सारी रात मैंने इसी आत्ममंथन में काट दी है—मुझमें आखिर वह कौन-सी कमी है जो मैं इस हठीली के मान को नहीं तोड़ सकता; जिसकी इतनी उपेक्षा करके भी उसकी भँवों के बल कभी ढीले नहीं पड़ते ? कभी-कभी मुझे अपने अस्तित्व पर भी संदेह होता। सचमुच बड़े कष्ट की ये बातें होतीं, जब वांछा का नैकट्य कई बार

प्राप्त कर मैं असफल निराश लौट आता ! मैंने अपनी डॉक्टरी परीक्षा भी करवाई और फिर अपनी उन्हीं मित्रों की ओर झुका, जिन्हें पुराने वस्त्र की तरह मन से उतार चुका था। नई-नवेली तो मुझसे दूर भागा करतीं, क्योंकि मैं अब विवाहित था। मुझे लगता, मैं धोबी का कुत्ता हो गया हूँ ! वांछा की जिन मर्मवेधिनी कविताओं पर मुग्ध होकर मैंने श्यामा जैसी मूर्त वासनामयी की अवहेलना की, वह ठीक उसके विपरीत ही नहीं निकली, मेरे मधुपान के सभी द्वार भी बन्द हो गए। उस प्रापाणी के प्राणों का रस लबालब था, पर वह दूसरे के नाम पर ही !

एक कमरे में, शय्या से दूर—कोच या चटाई पर वांछा झपकी लेती और छूते ही इस प्रकार फिसलकर भागती कि फिर जितने दिन रहता, उसके दर्शन भी दुर्लभ हो जाते !

मैं खून के घूँट पीता। मन में तरह-तरह की शंकाएँ उठतीं, पर धैर्य से उसके बचपन और वहम दूर होने की प्रतीक्षा करता रहा।

संपूर्ण रूप से मानवी नारी होकर वह दूसरे पुरुष के लिए जीवन बर्बाद कर रही थी, इससे बढ़कर मेरा और दूसरा कौन-सा अपमान होता ?

और इसी रोष से पूजा की छुट्टियों में ससुराल से बुलावा आने पर भी मैं लखनऊ कवि-सम्मेलन में चला गया। मंच पर से ज्योंही उतरा, एक सुदर्शन और सुसंस्कृत युवक ने मुझे अपने प्रगाढ़ आलिंगन में बाँध लिया—'आप चिन्मय राव हैं ? आपका नाम सुनकर जितनी कल्पना की थी, दर्शन कर उससे बहुत अधिक पाया ! आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे अजित पुरुषोत्तम कहते हैं !'

—'अजित पुरुषोत्तम ! आपसे मिलकर मुझे बड़ा ही सुख मिला।' मेरे मुँह से यह मात्र सभ्यतावश ही नहीं, अनायास हृदय पर जो प्रभाव पड़ा उसीकी प्रतिध्वनि-सी गूंज उठी !

—'यदि मेरा निमंत्रण स्वीकार कर मेरे यहाँ चलें तो बड़ा अनुग्रह मानूँगा। मेरी पत्नी आपकी कविताओं की बहुत प्रशंसा करती हैं।'

यही है पुरुषोत्तम ? अभी हाल में ही आई० सी० एस० होकर आया है। कान्त और वांछा से जितना सुना था, उससे भी अधिक

स्वयं प्रभावित हुआ ! उसका व्यक्तित्व, उसकी आत्मीयता, निश्छल सौहार्द्रपूर्ण बातें और व्यवहार सभी अप्रतिम थे। मेरी पत्नी के कवयित्री होने की बात जानते हुए भी मेरे सुख और सौख्य के प्रति जिन वाष्पाकुल शब्दों में उसने मंगल-कामना प्रकट की, लगा मैं उसके सामने बहुत ही छोटा हो गया हूँ।

अपनी पत्नी से परिचय कराते हुए जब उसने कहा—'और ये हैं 'छविछाया' ! मेरी पत्नी, जिन्हें मैं छाया ही कहा करता हूँ। इस वर्ष ही मनोविज्ञान में एम० ए० किया है। अगले महीने विदेश भी चली जातीं, लेकिन जब इतने दिन के बाद व्याह किया है, मैं सहज ही छोड़नेवाला नहीं हूँ। अब तो अगले वर्ष साथ ही चलेंगे।'

और एकाएक जो मुक्त हास्य गूँजा, मन के सारे बंधन खुल गए। वांछा कभी मेरे मित्रों में इस प्रकार कुंठाहीन व्यवहार कर सकती है ?

छवि को मैं ठगा-सा देखता ही रह गया। नाम और गुण दोनों में समान। ऐसी रूपरानी, लक्ष्मी और सरस्वती को एकसाथ ही पाकर उस साधारण-सी ग्रामकन्या को पुरुषोत्तम भूल नहीं गया होगा ? वांछा ही इसके नाम की माला जपती रहे ! बुद्धिहीना ! लेकिन विदा-वेला में जब उसकी पत्नी ने आग्रह-भरे शब्दों और वाष्परुद्ध कंठ से कहा—'वांछा जी को अगली बार अवश्य ही लाइये, चिन्मय जी ! कवयित्री के रूप में उनका परिचय प्राप्त होकर भी पूर्ण संतोष नहीं हो पाता, उन्हें अपनी आँखों से देखने की, अपने कानों से सुनने और स्पर्श करने की लालसा बड़ी पुरानी है। यह तो सौभाग्य ही कहिए कि आपको 'ये' पा गए। अब तो यह आशा विफल नहीं होगी कि आप दोनों के दर्शन का सौभाग्य शीघ्र ही प्राप्त होगा। मेरी इतनी प्रार्थना माननी ही पड़ेगी चिन्मय जी, क्रिसमस पर अवश्य-अवश्य आइये।'

मैं तो सन्न रह गया ! दूसरी जगह कोई ऐसी रूपसी इन शब्दों में आमंत्रण देती तो कितनी प्रसन्नता होती ! यहाँ ये सारे जाल रचे-रचाये थे। मात्र इसीलिए कि पुरुषोत्तम मुझे यहाँ ले आया था। जो स्वयं अपने मुँह से नहीं कह पा रहा था, पत्नी के होंठों से कहला रहा था। आकर्षण मेरे लिए नहीं, वांछा के प्रति था !

तो यह उसे आज भी नहीं भूला है ? क्या है उस मामूली-सी लड़की में ?...वांछा की डायरी मैंने चुपके से पढ़ ली थी—वांछा के पत्र लिखने पर उसने उसका घोर अपमान किया था ! तो क्या वांछा की हेठी करने, उसके सामने अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिए ही यह निमंत्रण का छल कर रहा है ? वांछा को कैसा लगेगा यह निमंत्रण ? इसका क्या रहस्य है ? सारी रात इसी उधेड़-बुन में डूबता-उतराता रहा !

यही वह पुरुषोत्तम है, जिसके लिए वांछा आज तक कोयल की तरह कुहक रही है। मन ही मन दोनों के प्रेम की कल्पना करता हूँ तो कान्त पर भयानक क्रोध आता है ! उस रात यदि वह मिल पाता तो उसका गला घोंट देता मैं। लगता है एक भयानक स्वप्न देखकर उठ बैठा हूँ, जिसका मोह ज़िन्दगी पर छाए जा रहा है, बस, छाए जा रहा है। किसी तरह मुक्त नहीं हो पाता मैं।

कान्त को मैंने अपने सम्बन्ध में सारी बातें कह दी थीं कि मैं पूरी तरह ठोक-बजाकर ऐसी पत्नी चाहता था जो मेरे सभी दोषों, सब पापों को जानकर मेरे जीवन में आए और पूरी तरह मुझे अपना ले। रूप-यौवन का रस पीकर मैं ऊब उठा था, चाहता था, पूर्ण शान्त, पूर्ण क्षमामयी, पूरी उद्वेगमयी सहगामिनी प्राप्त कर लूँ कि शेष जीवन स्निग्ध छाया में कट जाए।

लेकिन कान्त ने धोखा दिया। वांछा अंतिम समय तक मेरा विरोध करने जा रही थी। कितना अच्छा होता, वह मुझे नहीं मिली होती ? आग का वह पिंड निगल जाने के लिए कितना कठिन योग करना पड़ा, उसे पचा पाता तो जीवन का वह अमृत प्राप्त कर लेता जो इस पार्थिव चेतना से अनन्त, अपार होता।

मुझे वह पाषाणी मिली, जिसे छाती से लगाने पर मन में मृत्यु की शीतलता व्याप गई, पाँव से ठोकर मारी तो मर्म तक झनझना उठा। वांछा मेरी वंचना ही सिद्ध हुई।

लखनऊ से लौटा तो देखा, वांछा का पत्र पड़ा है। अन्य औपचारिक पत्रों से भिन्न था वह। पत्र की दो-तीन पंक्तियाँ ही मर्म को

छू गईं।

ससुराल गया तो लगा वांछा एकदम बदल गई है। बहुत गंभीर, विचारमग्न और मौन। पुरुषोत्तम का नाम लेते ही उसकी व्याकुलता और पीड़ा-भरी ललक जो देखी, अपने पौरुष का और अपमान नहीं सह सका। वांछा को मैंने बलपूर्वक प्राप्त किया। मैंने समझा, इस मूढ़-मुग्धा, अनाघ्रात किशोरी को मैंने अब पूर्णत: जीत लिया, लेकिन उसने मेरे लिए फाँसी का फंदा तैयार कर दिया।

दूसरे दिन वांछा आग की लपटों से घिरी खड़ी पाई गई। उसने आत्महत्या करने का प्रयास किया था। आग बुझानेवालों में पहला व्यक्ति मैं ही था, जिसे दो झुलसी, अधजली चिट्ठियाँ मिलीं। एक में अपने जलने की स्वेच्छा थी। और दूसरी जाने किसके नाम थी, जो पढ़ी नहीं जा सकी।

अब इस स्त्री से जन्म-भर बातें नहीं करूँगा। यही प्रतिज्ञा लेकर तीन महीने के बाद लौटा, लेकिन जब वांछा ने स्वयं पत्र लिखकर बुलाया, रुक नहीं सका।

इस बार वांछा का नया रूप देखा। तरंगवती नदी की लहर जैसी वह मुझसे मिली और लगा, मेरे प्राणों में समा जाने के लिए जन्म-जन्मान्तर से वह उमड़ी आ रही है।

उफ! कितनी बड़ी प्रवंचना थी वह! उस सीधी बछिया ने कितना प्रपंच रचा था!

गर्भ के दिनों में ही मैं शंकित हो उठा। तानपूरा लेकर वह सारी-सारी रात बैठी विभोर होकर गाती रह जाती—दीनानाथ, दुखभंजन, पद्मनाभ, पुरुषोत्तम!

सुबह होने पर अपनी मूढ़ता पर खीज आती और क्रुद्ध सर्प की तरह फण पटकता, लेकिन सारी रात, उस राग के अनुराग में बीन-मुग्ध-फणि की भाँति अपलक उसे देखता रह जाता। रोते-रोते उसका आँचल भीग जाता। तानपूरे पर भार देकर ही वह सो जाती।

दिन में जब कभी उससे बात करने की इच्छा होती, देखता—अपने जानु पर दोनों हाथ रखे, आँखें मूंदे जाने वह किस ध्यान में समाधिस्थ

है ! किस पगली से मेरा पाला पड़ा ! मैं यही सोचता। पहली ही दृष्टि में बच्चे को देखकर मैं आकाश से गिर गया। सारी देह में आग की चिनगारी उग आई। उसपर नवजात की कुटिल मुस्कान ने नमक-मिर्च बुरक दिया।···वांछा को उसके चिर यौवन की रक्षा के लिए, धोखे से जो औषध पहले ही खिला चुका था, उसके फलस्वरूप उसे दूध नहीं उतरा था, तब मुझे लगा कि साँप को दूध पिलाकर पालने से निवृत्ति की ईश्वरीय प्रेरणा ही मिली थी मुझे।

ऐसी दुबली-पतली और सुकुमारी वांछा का वैसा स्वस्थ-पुष्ट और सुन्दर शिशु !···वांछा के पिता ने पूरा हंगामा किया और बच्चे को दूध पिलाने की स्थिति नहीं रहने पर भी उसे दूध होने की दवाएँ खिलाई जाने लगीं। वांछा इस दुहरी प्रतिक्रिया को सँभाल नहीं पाने के कारण ज्वर की बेहोशी में बड़बड़ाया करती—'बड़ी साधना से तुम्हें बांध पाई हूँ। अब कहाँ भागकर जाओगे, निर्मोही ! देखो, तुम्हारा नवीन संस्करण मेरी गोद में है।'

निश्चय ही ये शब्द पुरुषोत्तम को लक्ष्य कर कहे गये थे। घोर आत्म-दंशन से भर उठा मैं। हाय री कुलटा ! यह पाप का बीज पनपने ही नहीं दूंगा !

डॉक्टर नीलरत्न मेरे लँगोटिया यारों में थे। कई बार अपनी सह-पाठिनियों की मित्रता जब मित्रता का सीमोल्लंघन करने लग जाती, उनकी दवाओं ने लाज और प्रतिष्ठा की मर्यादा रक्षित रखी है।

उस उड़िया युवती हिमानी ने जब मुझे कानून के हाथों गिरफ्तार करना चाहा था, इन्हींकी दया से मैं मुक्त हो सका था। किन्तु 'वांछा' मेरी नव परिणीता थी। उसकी पाप-कथा उसके पति के मुँह से निकले, इस साहस और शक्ति के लिए, डॉक्टर की आलमारी से निकाल कर पूरी बोतल अकेले चढ़ा गया। फिर भी जुबान काँप रही थी। बहुत अटक-अटककर कहा तो डॉक्टर बहुत जोर-से हँसा। उसने कई तरह से मुझे बहलाने का प्रयत्न किया, मगर मुझमें दृढ़ संकल्प था। अन्त में बहुत जिद और हुज्जत के बाद पाकिट में इन्जेक्शन की एक सूई में बूंद भर विष—संखिया लेकर लौटा।

डाक्टर ने बहुत सारी शर्तें दी थीं और यह भी कहा था कि सुबह अगर दवा सुरक्षित मिलेगी तो आजीवन मेरी पूजा करेगा, वरना मेरा मुंह भी नहीं देखना चाहेगा।

उस दिन दो बजे रात के बाद घर लौटा। सभी सो गए थे। वांछा के कमरे में दूसरे कमरे से होकर गया, देखा—वांछा घोर नींद में सो गई है। पालने में झुककर देखा, वह दुष्ट पाजी अब तक जगा, चुपचाप अपना अंगूठा पी रहा है। मुझे देखते ही वह मुस्करा उठा।

हँसी का यह दंश मेरे रोम-रोम में भर उठा। जाने क्यों मुझे उस हँसी से घोर ईर्ष्या का ही उद्रेक होता। लगता जिस व्यक्ति ने वांछा का मन मुझसे छीना है, उसका तन छीनने के लिए ही उसका यह प्रतिरूप मेरी यह हँसी उड़ा रहा है!

वांछा की ओर देखा—कल की अल्हड़ किशोरी देखते न देखते गदराकर युवती बन चुकी थी। दूध सूखने की दवा खिलाने के बावजूद उसके घरवालों के प्रयत्नस्वरूप उसमें एक माँ के पूरे लक्षण उभर आए थे। कंधे से ढलका आँचल, ब्लाउज के खुले बटन और आठ-दस दिनों में ही उसके अपरिपुष्ट उरोजों का सुपुष्ट मातृस्तन्य हो जाना देखकर चकित रह गया। बड़ी तृप्त होकर सो रही थी वह।

वांछा इसी तरह बूढ़ी होगी, रोगिणी होगी और फिर विरूप हो जाएगी! यही दृश्य देखकर बुद्ध के मन में विराग उत्पन्न हुआ था। मैं किस भयानक विकल्प में पड़ा हूँ? नहीं, नहीं, उसे या तो तड़पा-तड़पाकर मारूंगा या पूर्णतः अपना ही लूँगा। और यह नन्हा-सा कीड़ा? मेरी मुट्ठियाँ एकसाथ ही तन गईं, इच्छा हुई बच्चे का गला घोंट दूं। लेकिन इसका नतीजा बहुत खराब होगा। फिर वांछा को जीतना कठिन हो जाएगा! नहीं, नहीं, इस कांटे को उखाड़ना ही होगा। मुझे यों भी बच्चा नहीं चाहिए! वांछा इसी उम्र से माँ बनती रही तो चार-छः वर्ष में ही चूजों से घिरी मुर्गी हो जाएगी। छिः, यह सह्य नहीं होगा मुझे!

मेरी दृष्टि फिर पालने पर गई, बच्चा उसी भाँति गम्भीर दृष्टि से मुझे देख रहा था। अंगूठा उसने होंठ पर ला रखा था, जैसे कोई वयस्क, ज्ञानी कुछ चिन्तन कर रहा हो। अचानक ही वह मुझे देखकर खिल-

खिलाकर हँस उठा।

और फिर मुझमें कुछ सोचने-समझने की शक्ति नहीं रह गई। मैंने पाकिट से निकालकर बच्चे की गर्दन, पीठ, जाँघ और कूल्हे में जहाँ-जहाँ हाथ उठे, सुई चुभो दी और जब तक बच्चा चीख-चीखकर रो उठे, मैं अपने बिछावन पर खुर्राटे भरने का अभिनय कर रहा था। फिर तो सारी रात उसकी चीख बन्द नहीं हुई। मैंने समझा था सुबह होते ही यह 'पापम्-शान्तम्' होगा। पर जाने किस वज्र से उसकी रचना हुई थी, छः दिनों तक बचता रहा, कम्बख्त! यह छः दिनों की अवधि मेरे लिए श्वास-श्वास पर मृत्यु का फन्दा थी।

यद्यपि अपने बचाव के लिए डाक्टर मैत्र से केवल नुस्खा ही लेता था। दवा लाने से लेकर खिलाने तक का काम उन्हीं लोगों के जिम्मे था, जिनपर वांछा का विश्वास और ममत्व था। इसके साथ ही अपने पागल-पन और झक के बहाने ने भी ढाल का काम किया, लेकिन अपनी तसल्ली तब तक नहीं हुई, जब तक कि वह अन्तिम लौ नहीं बुझ गई।

कहा जाता है, पाप बड़ा प्रबल है। वांछा के मृत बालक को उठाते वक्त उसके खुले होंठों से ढेर सारा रक्त बह आया जिसमें चार बिन्दुओं के रूप में गहरे नीले-काले रंग का कोई पदार्थ स्पष्ट लक्षित हो रहा था। उस वज्रदेहात में यद्यपि इसे डायन की लीला कहकर लोगों ने संतोष कर लिया, पर मेरी ही तरह सतर्क और भी कई आंखें थीं जो इसका मर्म लक्ष्य कर रही थीं!

वांछा का आर्तनाद, परिजनों की स्तब्धता, शंका और न जाने कैसी खुसुर-पुसुर की याद आते ही आज भी रक्त में हिम की जड़ता छा जाती है। यदि उसके पिता ने यह नहीं कहा होता—'अब इस मरे बच्चे की कौन-सी दुर्गति कराने पर तुले हो तुम सब? सभी भाग जाओ यहां से।' तो ये पंक्तियाँ कहने को मैं होता या नहीं, संदेह है।

मगर बच्चे की अन्त्येष्टि कर ज्यों ही लौटा लगा मेरे 'स्व' का कुछ टूटकर गिर गया है! मुझे अपने कृत्य पर घोर पश्चात्ताप हुआ था। यह अनुताप तो ज्यों-ज्यों उसकी पीड़ा बढ़ती जाती, मुझमें बढ़ता जाता था, पर अब उपाय क्या था? अपना रोम-रोम मुझे धिक्कार रहा था—

उस नन्हीं-सी जान ने मेरा क्या बिगाड़ा था ? बदला तो जिससे लेना था, उससे बुरी तरह मात खा गया !

'सरो' की याद इसी समय बड़ी वेधक रूप से आती है। क्या मैं सरला के अर्धशिक्षित, मूर्ख दिखने वाले अपंग पति से भी गया-बीता था ! रंजन की बहन सरला को हिन्दी प्रवेशिका की तैयारी कराने के लिए उसकी माँ ने मुझे कहा था और सरला ऐसी कि मैं जो कहूँ, उसे चातकी की तरह अतृप्त नयनों से पीती, जब मैं कुछ पूछता तो सिमटकर लाल-लाल हो जाती !

खीझ से अनुराग, अनुराग से ममता और ममता से प्रेम-प्रणय का उदय हुआ। जब वह ब्याह के समय डोले में चढ़ी, मेरे प्रेम का दो महीने का अंकुर उसमें सिहर रहा था।

सात महीने में ही सरो को बच्चा हुआ। वह भी ठीक मुझपर ही पड़ा, और लोगों ने खूब कानाफूसी की। सिर्फ इतना ही था कि बच्चा बहुत ही कमजोर और दुबला था, जिसमें सरो के भयानक गरीब पति का ही दोष था ! मगर उस अपंग, मूर्ख और पागल-से व्यक्ति ने जो कुछ किया, हाय, यदि मैं कर पाता !

सरो का पति अपनी दोनों भुजाओं को उठाकर बोला था—'खबरदार, किसीने कुछ कहा तो जुबान कतर लूंगा।' और सरो को विदा कराकर ले गया।

सरो अब भी सामने पड़ती है तो घृणा से जलाकर चली जाती है। आज भी उन आँखों से जलकर भस्म हो उठता हूँ। क्या वांछा के अरमानों के उस खिलौने को मैं हृदय से नहीं लगा सकता था ? जिस उदार व्यक्ति ने मुझे जानबूझकर छाती से लगा लिया था, उसके प्रतिरूप को मैंने इतनी क्रूरता से मिटा डाला ? छि:, कितना पतित हूँ मैं ? पुरुषोत्तम ने जब मुझे बाँहों में भर लिया था, मैंने महसूस किया था, मेरे बाएँ कंधे पर कुछ गर्म बूँदें भी गिरी थीं। उसके आलिंगन से मुक्त होकर मैंने देखा था, उसकी आँखें नम थीं। पहली ही बाजी मैं हार गया, जरा समझ से काम लिया होता। नहीं, डॉक्टर नीलरत्न की युक्ति को ही मान्यता देता कि गर्भकाल के चिन्तन से भी शिशु की अंगयष्टि का

निर्माण होता है।

हाय, तब तो सरो मेरे सम्मुख विराट् प्रश्नचिह्न बनकर अड़ी थी, कैसे प्रबोध कर लेता ?···जो स्वयं पापी होता है, सबको अपने ही जैसा पतित, नीच और अविश्वसनीय मानता है। अपना विश्वास खोकर, अपनी ही दृष्टि में गिरनेवालों का फिर कहीं कोई मार्ग नहीं रह जाता। जिस बावली को इतना भी ज्ञान नहीं था कि नारी को भ्रष्ट कर देने के लिए एक चुम्बन का विष ही पर्याप्त नहीं होता, उसीने यदि यह साधना साधी तो मैंने उसके प्रति ऐसी दानवता का परिचय दिया ! डॉक्टर नील-रत्न ने भी मेरा घोर अपमान किया था। बच्चे की छटपटाहट देखकर जब मेरा मन डावाँडोल हो उठा था, मैं वहाँ गया था और उन्होंने अपने पांव छुड़ाकर मुझे झिड़क दिया था—'दूर हो जाओ मेरी नजरों से पापी ! अब समझ में आ रहा है, तुम इतने क्रूर और पतित हो ! जिसके हाथ अपने बच्चे की हत्या करने में नहीं काँपें, क्या मैत्री की सुरक्षा कर सकेगा ? जाओ, दूर होओ मेरी नजर से ?···'

और फिर जाने कैसे वांछा के मन में भी इस अविश्वास की छाया उतर आई। एक दिन प्रातः ही उठकर रोना शुरू कर दिया—'मैं तुम्हारी दी दवा नहीं खाऊंगी। मैंने सपने में देखा है—डॉक्टर नील-रत्न को मिलाकर तुम मुझे विष खिला रहे हो।'

मैं उस मूर्खा को कैसे समझाता, वह मेरे लिए क्या है ? गरीब जुलाहा जिस तरह सोने के अंडे देनेवाली मुर्गी का यत्न करता था, वांछा को एक दिन मैंने वैसा ही समझा था। ऊर्जस्वी प्रतिभा की नोक लगा-कर मेरा आयुध अमोघ और अचूक हो सकता है, जिसे मैं किसी भी कीमत पर खोना नहीं चाहता था। उसके जीवन की परमावधि, उसके यौवन का स्थायित्व और सहज सुमधुर कंठ का आकर्षण मेरे लिए अपने प्राणों के बाद ही था।

फिर जिस तरह मेरे कठोर आचरणों के प्रति वह विरक्त और घोर सहिष्णु होकर जड़वत् हो रही, मैंने भी अपने स्वार्थों की चोट से मर्माहत हो-होकर उसे खो देना, उससे बदला लेना चाहा। कालान्तर में यही भावना खून की प्यासी हो गई और अंत में वही हुआ, जो नहीं

होना था।

पता नहीं कौन-सा तेज उसकी निरीह भंगिमा से निकलता, जिससे मैं मन ही मन भय खाता। तभी तो, जब-जब कोई प्रतिशोध की प्रतिक्रिया मेरे मन में उभरी, उसे रूप देने के लिए, मैं इतना पी लेता कि दूसरों को इस बात की गंध भी नहीं मिलती—मैंने पूर्व निश्चित योजना के अनुसार ही कुछ किया है !

दूसरे दिन जब वांछा नतग्रीव, सजल आँखें और मौन हो अपने काम में लगी कभी सामने पड़ जाती, उसके मुँह-हाथ पर बने मेरी क्रूरता के निशान स्वयं ही मेरी आत्मा पर चाबुक मारा करते।

फिर कई-कई दिनों तक मैं भागा-भागा चलता। इसी आँख छिपाने की स्थिति में मैं उस बार अपनी उस आत्मीया के द्वार पर जा खड़ा हुआ, जिसकी आँचल-छाया न मिली होती तो जाने कहाँ होता मैं ? ताई मेरा कितना विश्वास करती थीं ?

ताऊ की लंबी बीमारी की परेशानी, लड़के की मेडिकल परीक्षा की अन्तिम फीस की दुश्चिन्ता से वह आधी हो रही थीं। मुझे देखते ही चौंकीं, फिर बड़े स्नेह से पुकारा :

—'चिन्मय रे !'

आज भी याद आता है, बचपन में ही मातृहीन हो जाने पर जब घर के अन्य लोग मेरी उपेक्षा करते और मैं अकेला खड़ा-खड़ा निर्वाक् रोया करता, अथवा आजी के कथनानुसार उस आकाश में जाने का मार्ग ढूंढ़ा करता, जहाँ माँ चली गई थी, ताई इसी प्रकार मुझे ढूँढ़कर बुलाया करतीं :

—'चिन्मय रे !'

मैं उनकी छाती में छिपकर रो उठता। ताई आँचल से मेरे आँसू पोंछकर मुझे बहलातीं—माँ आकाश या गंगा में कहीं नहीं गई। जिस तरह लोग पुराने कपड़े बदलकर नये कपड़े पहन डालते हैं, मेरी माँ अपना रोग-जर्जर शरीर बदलकर ताई के शरीर में समा गई हैं !

—'तो कहाँ हैं मेरी माँ ?'

ताई अपनी पुतलियों की ओर मुझे देखने की प्रेरणा देतीं ! और

उनमें अपने ही अक्स देखकर मेरे बालक मन को मां की सान्त्वना मिल जाती।

—'मैं अपनी देह कब बदलूंगा, ताई ?'

—'जब तेरे भी बेटा हो जाएगा।'

—'क्यों ताई ?'

—'बेटा होने पर ही तो भगवान जी वह शक्ति देते हैं बेटा।'

—'मेरे बेटा कब होगा ताई ?'

और ताई हँसते-हँसते दुहरी होकर मुझे छाती से लगा लेतीं—जब तू मुझसे बड़ा हो जाएगा। जब तू खूब अच्छा लड़का बनेगा, तभी बेटा होगा, चिन्मय। आह, ये बातें कितनी पुरानी हैं, फिर भी लगता है, कल ही घटी हों ! जिस बेटे की प्रतीक्षा बचपन से ही करता रहा, उसे तो नष्ट कर ही डाला, मातृस्वरूपा ताई के स्नेह का, उपकारों का मैंने यही बदला दिया ? ओह !

'चिन्मय रे !' ताई ने बड़े स्नेह से पुकारा, जैसे मेरी ही प्रतीक्षा कर रही हों !

दिन को खा-पीकर जब सभी जहाँ-तहाँ हो रहे, चारों ओर देखकर वह मेरे पास आ बैठी।

'चिन्मय रे ! बड़ी मुश्किल में फँस गई हूँ बेटा, मेरी राह निकाल दे।'

ताऊ बड़े ही कटुभाषी थे। शुरू से ही ताई को जली-कटी सुनाया करते। इधर लगातार चार साल से खाट पर पड़े-पड़े वे बारूद-भरी बंदूक हो गए थे। मैं मन ही मन हँसा—कहीं फिर मैके पहुँचाने का आग्रह करें।

—'हँस मत रे ! अब इस लोथ को छोड़कर कहाँ जाऊँगी ? वह तो जीवन-भर का सिंगार ही रहा। कष्ट तो इसका होता है—इस अभागे रवि का, जिसकी आखिरी परीक्षा पैसों के अभाव से छूट जाएगी। जानती हूँ तेरे पास भी पैसे नहीं हैं। किसीसे कुछ कह नहीं पाती। यही मेरा अंतिम जेवर है, जिसका अब कोई उपयोग मेरे लिए नहीं रहा, सोचती हूँ, रवि के काम आने से बढ़कर इसका और कौन महत्त्व होगा ?'

मैंने देखा—उनकी दिवंगता पुत्री कुसुम जो आठ-दस वर्ष में ही मर गई थी, उसके हाथ के सोने के ठोस कड़े लिए ताई निःशब्द आँसू बहा रही थीं।

उनके प्रवास में ही चौबीस घंटे की बीमारी में कुसुम चली गई थी। तार पाकर जब ताई लौटीं, ये ही कड़े कुसुम के चिह्नस्वरूप उन्हें मिले थे और आज तक बड़े ही यत्न से इन्हें उन्होंने बचाया था !

व्यथा से मन भर आया। मैंने ताई को बहुत समझाया। मेरा मन स्वयं ही आगा-पीछा कर रहा था, पर ताई ने माना नहीं। न मेरे साथ ही हो लीं। जानता हूं, समाज के इन्हीं ठेकेदारों ने मुझे परोक्ष रूप से गुंडा, आवारा और नाकाबिल कहकर बदनाम किया है। मेरे साथ इनकी बहू-बेटियाँ नहीं निकल सकतीं। ये साठ साल की बुढ़िया भी नहीं !··· हजारों विकल्प, आँधियों से आक्रान्त मन लिए पाकिट में कड़े लेकर मैं भारी कदमों से निकला, लेकिन दूसरी ओर मेरी पशुता प्रसन्न होकर सिर उठा रही थी।

पूरे तीन सौ में वे ठोस कड़े बिके। पहले तो पच्चीस प्रतिशत कमीशन के हिसाब से खर्च करने की मैंने ठानी, फिर जब सौ के नोट टूट गए, हाथ रोकना कठिन हो गया। उस दिन से तीन दिनों तक ताई के सामने नहीं जा सका। तीसरे दिन शाम को चौरंगी वाली गली से जो निकला, मोटा लट्ठ लिए रामसिंह सामने खड़ा था :

—'कहाँ थे बरखुरदार ! मालकिन के कड़े कहाँ हैं ?' रामसिंह के संग नहीं जाता तो टाँग कर ले जाता।

ताई ने एक बार मुझे आग्नेय नेत्रों से देखा फिर धीरे-धीरे उनकी आँखों में जल भर आया।

—'ताई, वांछा की हालत दो दिन से खराब हो गई थी। कड़े सुनार को दिए हैं। आज शाम को रुपये मिल जाएँगे।'

वांछा उस समय फिर गर्भवती थी। रात में जब घर गया, देखा—वांछा दीवार से पीठ टिकाए जगी है। रोते-रोते आँखें सूज गई हैं। स्नेह हो आया।

—'क्यों रोती हो ? मैं तुम्हें छोड़कर थोड़े ही गया था ? ताऊ को

हालत बहुत खराब हो गई थी, ताई ने रोक रखा था।'

फिर मैंने उसे सारी बातें समझाईं। लेकिन वांछा ने सदा की तरह मेरा विरोध किया। और अगली सुबह मुझे सोता हुआ छोड़कर ही जाने कब मील-भर पैदल चलकर, मेरी जेब के शेष एक सौ सात रुपये दे आई।

पता नहीं, ताई ने क्या कहा-सुना। जगा तो उसमें विराट मौन और गांभीर्य देखा। खा-पीकर जब चलने को उद्यत हुआ, तभी मुझपर यह राज प्रकट हुआ। पूछने पर सहज निर्भीकता से उसने कहा—'रुपये ताई के थे, उन्हें मिल गए।'

फिर पता नहीं, कब तक मैं पशुओं की तरह उसे पीटता रहा। शाम को जब घर लौटा, वांछा रक्त-क्लेद में पड़ी बुरी तरह ऐंठ रही थी।

आज जाने क्यों शराब पीने की इच्छा नहीं हुई थी, तभी सन्ध्या काल में ही घर आया और मुझमें होश-हवाश भी था।

किसी प्रकार वांछा बच गई। लेकिन उस मृत शिशु को देखकर जैसे मेरे मुँह से एकाएक चीख-सी निकल गई! यद्यपि आठ माह के गर्भ में ही मेरे क्रूर आघातों से बच्चा पेट में ही निष्प्राण हो चुका था—दूसरी बार भी 'पुरुषोत्तम' हमारे हाथ से भाग निकला! ठीक पहले बच्चे की सूरत-शक्ल! अन्तर केवल यही था कि वह सुपुष्ट था और यह दुर्बल। कैसी जादूगरनी है वांछा! इस बार तो एक पल के लिए भी अरक्षा का प्रश्न नहीं था। बाहर भी जाता तो ताला लगाकर ही। इस आठवें माह में ही प्रथम बार तीन दिनों की अनुपस्थिति थी, मगर बच्चा तो पूर्णतः मेरा था! कैसी अंजनहारी की साधना की थी वांछा ने? आज यदि वह बच्चा भी जीवित रहता तो इस आई० सी० एस० के बच्चे को बुरी तरह फाँसता! मेरी दुनिया उजाड़ देने की सजा वह समाज में अपमानित होकर पा लेता।

मगर उस दिन तो एक ओर बेहोश वांछा, दूसरी ओर मृतशिशु को देखकर इस तरह फूट-फूटकर रोया था कि ऑपरेशन करनेवाले डॉक्टर की आँखें तक नम हो आईं। उसने भी आर्द्र होकर कहा था—'आपकी

पत्नी जीवित रह सकीं, खुदा को शुक्रिया अदा कीजिए, मि० राव ! बच्चे फिर हो जाएंगे। वरना जिस प्रकार बाइस सीढ़ियों से लुढ़कती-पुढ़कती ये गिरीं, इनके प्राण बचना ही कठिन था।

होश आने पर रोती हुई वांछा को उन्होंने मेरे प्रेम की दुहाई देकर वर्जित किया था—'अरे, आप भी रोती हैं श्रीमती ! जिसे अपने पति का इतना प्रगाढ़ प्रेम प्राप्त हो, वह निर्जीव जान के लिए रोए ?'

तब वांछा के मुंह पर वेदना की जो परछाइयाँ उभरी थीं, मैं काँपकर रह गया।

सोचता हूँ, इस अखण्ड निष्ठा, अनन्त आस्था की एक बूंद भी मुझे मिली होती तो मैं स्वयं क्या नहीं बन जाता ? बचपन से ही अपने घर में जो कुछ देखा और सीखा, उससे आस्था का बीज पुष्ट नहीं, क्षीण ही होता गया।

बाहर पिताजी के चेम्बर में तरह-तरह के लोग आते—साधु, चोर, बेकार और व्यापारी से लेकर समाज के उच्चातिउच्च और निम्न से निम्न वर्ग का वहाँ जमघट होता। घुँघरू की गत पर बोतलों के काग उड़ते। शराब-कबाब के दौर में आस्था और चेतना डुबो दी जाती तो भीतर आँगन में माँ के पास अहरह अगरु-धूम की गंध उठा करती।

शंख, मन्त्रोच्चार या संकीर्तन के स्वर उठते और श्रद्धा की अमिट शिखा-सी माँ उन सबों के बीच जला करती।

इस अंधाधुंध में घर की नींव ढहती जाती। पिताजी कर्ज में जितना डूबते, शराब की मात्रा उतनी ही बढ़ती जाती और माँ आंसुओं में घुल-घुल कर बही जाती। अन्त में गले में फाँसी का फंदा लगा कर ही उसे झूलना पड़ा ! हाय री माँ !

फिर पिताजी गृहत्यागी हो गए। बची-खुची रियासत कर्जदारों के यहाँ से जब तक नहीं लौट आई, इन ताऊ और ताई ने ही मुझे स्नेह की छाया दी ! आज भी वह दिन नहीं भूला है। जब बारह वर्षों के बाद पिताजी पूरी तरह से सुधरकर घर लौटे, ताऊ और ताई ने सारे कागज-पत्र के साथ मुझे सौंपते हुए कहा था :

—'भैया, यह आपकी अमानत आप स्वयं ही सम्भालिए। अब मेरा

काम हो चुका।'

और पिताजी ने स्वर्गीया माँ की एकमात्र निशानी समझकर मेरी समस्त इच्छाओं की पूर्ति उन्हींकी प्रसन्नता के लिए की।

अच्छा होता, पिताजी वापस आते ही नहीं, अथवा यही कि मेरे कोई और भाई-बहन होते। सबसे ही अच्छा होता, वांछा से ही मेरा परिचय नहीं होता।

जो निष्ठा और प्रेम उसने पुरुषोत्तम को दिया, मुझे मिल पाता तो गृहस्थी की गाड़ी फिर से चल पड़ती।

उसने जो कुछ किया—मात्र कर्तव्य की रुखाई अथवा अपने शाप-ग्रस्त जीवन की अवधि पूरी करने के निमित्त ही! कभी अरुद्ध-अंकुठित प्यार नहीं दिया। कभी भी लाख सौगंध देने पर भी नहीं बता पाई, कभी प्रेम के पहले दिनों में ही, पुरुषोत्तम से उसका आंगिक संपर्क नहीं हुआ? बिना इसके कभी प्रगाढ़ प्रेम हो ही नहीं सकता। या कान्त के ही मन में कैसी प्रतिशोधक ज्वाला थी? कभी उसने इससे कोई ऐसी चेष्टा की होगी, जिसका वांछा की ओर से विरोध पाकर ही कान्त इतना हिंस्र हो उठा हो!

नहीं, वांछा की दलील तर्क-सम्मत कभी नहीं है। ये थोथी बातें इस ज़माने की नहीं हैं। वह अवश्य ही कुलटा है। यदि वह असती नहीं है तो कितनी बार लाख उकसाने पर भी न डूब ही मरी, न जली ही और न विष ही पिया कभी! छुरा भोंकने पर भी जी उठी! वह मर क्यों नहीं जाती? 'आत्महत्या वही कर पाते हैं, जो निर्मल और निष्कलुष होते हैं।' मेरे मित्र उमेश की उक्ति कितनी तथ्य-पूर्ण है।

उमेश ने दरिद्रता के इस पाप-पंक से उबरने के जो गुर मुझे बताए, हतभागी वांछा ने उनमें भी सहयोग नहीं दिया।

कई दिनों से घर में चूल्हा तक नहीं जला था। उन्हीं दिनों उमेश मेरा अतिथि हुआ था। उसकी ही युक्ति से खाद्य मन्त्री के यहाँ अपनी दीन-दशा, साहित्यिक दुर्भाग्य और पिताजी की मित्रता की दुहाई देते हुए जो मार्मिक चित्र खींचकर पहुंचा था, और स्वयं उमेश ने प्रेस-रिपोर्टर होकर,

मेरी ऐसी जोरदार अपील की थी कि स्वयं खाद्य मन्त्री भी रो पड़े !

उस समय तो उन्होंने हमें अपने राजभोग का अतिथि बनाया ही, पाँच रुपये भी दिए। और, साथ ही राज्य के प्रमुख सरकारी होटल के मैनेजर के नाम एक पुर्जा भी, जिससे जब तक उनका खाद्य मन्त्रित्व-काल रहता, राज्य-अतिथि के रूप में मुझे आठ आदमियों का नित्य भोजन मिला करता।

लेकिन अभागिन वांछा तो यह सुनते ही बारूद बन गई—'मुझे घर में भूखों मर जाना कबूल है, पर ब्राह्मण या महापात्र की तरह पेट बजाते हुए यहां-वहां जाना नहीं ! आप चाहे जो कीजिए, जीते जी न स्वयं जाऊँगी न विजय को ही जाने दूंगी।'

आवेश में मैंने भी कार्ड फाड़ दिया ! वरना, जिसे भी यह सुयोग मिलता 'वांछा' बन जाने में कितनी देर लगती ? उसने स्वप्न में भी अपने इस साहित्यिक पति का महत्त्व नहीं समझा ! जाने अब तक किन झूठे सपनों से अपने को बहला रही है ! हाय री अभागिन ! इस बार बच जाऊँ, तो फिर वह मज़ा चखाऊँ !

दूसरी बार लौटकर आने पर उमेश ने दूसरी युक्ति दी।

लेकिन उस पाखंडिन ने मेरे उन सभी दोस्तों को बन्द द्वार की देहरी पर से ही जली-कटी सुना-सुनाकर लौटा दिया, जिनकी कृपा से कितनों ने सोना पीट लिया !

मैंने स्वयं कई बार सुना है—किसीके यह पूछने पर,

—'कविजी हैं ?'

—'नहीं हैं !' चाबुक की तरह ज़ुबान चलती !

—'कब आएँगे ?'

—'मुझे नहीं मालूम।'

और इतने पर भी कोई, कुछ आवश्यक चीज ढूंढ़ने के बहाने से किवाड़ खोलवाना चाहता,

—'माफ कीजिए, यह सब उनके सामने ही सम्भव होगा।'

उसकी बीमारी की अवस्था में, मेरी अनुपस्थिति में ही सत्यदेव जब उसकी खाट पर बैठ गया था, वांछा भूखी बाघिन की तरह तड़प

उठी थी—'सत्य बाबू, यही आपका असली रूप है ? आप क्या पाना चाहते हैं ? यदि मेरी जगह आपकी सगी बहन होती तो आप क्या करते ?'

सत्यदेव ने मुझे रास्ते में ही कहा था—'वांछा के पांव छूकर माफी मांगने पर ही उसका रोष गल सका था। पर अब पता चला चिन्मय, जाने किस पुण्य के प्रभाव से तुम्हारे पापपंक में वह देवता का निर्माल्य आ गिरा है ? तुम तो भैंसा हो भैंसा !'

वांछा ने भी तो यही कहा था—वह देवता का निर्माल्य है। सत्यदेव ने मुझे भैंसा कहा था !

बन्द द्वार की ओट से सवाल-जवाबों की कथा मित्रों में इतनी प्रसिद्ध हुई थी कि सत्यदेव को उसकी परख के लिए ही यह दुस्साहस करना पड़ा था।

घर आया तो मुझे सामने पाकर वांछा फूट-फूटकर रो पड़ी—'मेरे रोगग्रस्त सूखे शरीर पर तुम इन भूखे कुत्तों को लगाते हो, स्वामी ? लो, स्वयं ही नोच-नोचकर खा डालो मुझे।'

स्वामी ! कितना दायित्वपूर्ण शब्द है ! नारी के जीवन, यौवन और संपूर्ण मर्यादाओं का रक्षक पुरुष ही पति—स्वामी हो सकता है। मैंने तो उसे भूखी, उपेक्षिता और प्रताड़िता ही रखा। उसने 'स्वामी' क्यों कहा ?

'वांछा ! अब और लज्जित मत करो मुझे।' और दूसरे दिन से ही ये सारे कृत्य बन्द हो गए। मैं धनवान, सभ्य और मध्यवर्गीय लोगों के बीच से, निम्न वर्ग के मुहल्ले में आ बसा, जहाँ न ये सारे कृत्य हैं, न आशंकाएं ही।

फिर मेरे ये मित्र ? गृहस्थ जीवन के आरंभिक दिनों में ही वांछा ने मेरे साथ घोर दरिद्रता झेली है और उसपर भी स्वयं भूखी रहकर मेरे मित्रों के स्वागत-सत्कार में उसने त्रुटि नहीं की।

बच्चों का पेट काटकर, मिहनत-मजदूरी कर और कर्ज ले-लेकर भी तुच्छ से तुच्छ सामानों को अपने कुशल करों से संवारकर उसने आगंतुक अतिथियों के सामने मेरे मस्तक को गर्वित किया है। और मुझ अभागे ने बाजी लगाकर, पेट से अधिक खा-खिलाकर, सूनी हांड़ी देखकर ठहाका

लगाकर उसे चिढ़ाया है—'अब तुम आज के बदले भी कल ही खा लेना बांछा !'

—'कोई बात नहीं' एक सहज मुस्कान ही उसके होठों से फूटती—'अतिथि की तृप्ति ही मेरे भगवान की तृप्ति है स्वामी ! जहाँ भगवान तृप्त हो चुका, भक्त कैसे भूखा रह पाएगा, स्वामी !'

—'स्वामी !'

लगता शब्द कोड़ा बनकर मर्म पर पड़ता और जब अनुताप से भरा मैं कोई उपाय ढूँढ़ा करता—पानी पीकर, तानपूरे की धूल झाड़कर वह इन स्वरों में खो गई होती—दीनानाथ, दुखभंजन

पद्मनाभ, पुरुषोत्तम !···

पुरुषोत्तम का नाम-स्मरण ही उसके सारे कष्टों को मधुर बना देता। हाय रे अभागा ! कहाँ है तू रे ? अरे, जिस बूंद के लिए चिन्मय आ-जीवन प्यासा रहा उस अनंतस्रोत की अवहेलना तू कैसे कर पाया रे, पुरुषोत्तम !

और, फिर घर में रहना कठिन हो जाता मेरे लिए। कहीं सूने में आकर उँगली डालकर पेट का सारा अन्न निकालकर सोचता—इतना सारा तो उस अल्पाहारिणी को कई बार के लिए होता ? हाय, तू इतना खाता है, राक्षस ! किसने तेरा नाम चिन्मय रखा है ?

जब तक कुत्ते वमित अन्न को ठिकाने नहीं लगा देते, मुझे लगता, इस भीम-भक्षण के पाप से मैं मुक्त नहीं हो सका हूँ !

चित्त की ग्लानि मिटाने के लिए मैं फिर पीता, खूब पीता और तब तक पिए जाता जब तक कि स्मृति की संपूर्ण लहरें अचेतन जड़ता के तट पर चूर्ण-विचूर्ण होकर खो नहीं जातीं।

माना कि मेरी सम्मान-रक्षा के लिए ही उसे ये स्वागत के स्वांग भरने पड़ते, लेकिन उसकी इसी सदाशयता ने मुझपर लोगों के अवि-श्वास का रंग गाढ़ा नहीं किया ?···

लोग कहते—'मियां दो-दो रुपयों के लिए मारे-मारे चलते हैं और बीवी का राजसी आतिथ्य देखने ही लायक होता है !'

कई बार ऐसे अवसरों पर स्वयं ही आ पहुँचा हूँ—तो देखा है, अँकुरे चने,

चाय अथवा घर के बचे-खुचे महज मामूली अन्नों को,जिन्हें फेंकने के बदले वांछा कोई नवीन खाद्य का रूप दे देती, और अपने श्रम द्वारा घर में उगाए गए फूल-पत्तों से उसने ऐसे कौशलपूर्ण अतिथ्य का आयोजन किया है, जिसकी जानकारी मुझे पहले से ही होती पर बाहरवालों को एक ही दृष्टि में बहुमूल्यता का भ्रम उत्पन्न होता।

उसके करीने से सजे घर, उसके सँजोए सामानों को देखकर गर्व और ग्लानि दोनों होते।

अकेले में वांछा को पाकर मैं रो पड़ता—'तू क्यों आई ऐश्वर्यमयी, मुझ अकिंचन के पास क्यों आई ! तुम्हें तो दूसरी जगह जाना था !'

उस समय भी उसकी जड़ता विगलित नहीं होती। स्वप्नाविष्ट-सी वह होंठों में ही हंसकर बुदबुदा उठती—'क्यों आई ?'' शायद मेरी तपस्या में चूक पड़ गई थी !' और मैं फिर जल-भुनकर पत्थर का पत्थर हो रहता।

वांछा ! तुम मेरी परिधि में नहीं आतीं, यही अच्छा होता। तुम्हारी अतृप्ति, तुम्हारी उपेक्षा से इतना पशु तो नहीं ही हो उठता मैं, जितना इस मौन सत्याग्रह से बन गया हूँ !

स्वयं अपने प्राणों के कवि को ठोक-पीटकर सुला देनेवाली पाषाणी मेरे प्राणों की व्यथा क्या समझेगी ?

आज कई वर्षों से जविका का समाधान भी वही कर रही है। मर-जीकर यही विजय बचा है—जिसकी माँ और बाप दोनों के फर्ज वही पूरा करती है ! इतना ही नहीं, महीनों का प्रवासी, क्षुधित और प्रताड़ित हो जब कभी भी रुग्ण और उद्विग्न होकर उसके द्वार पर गया, उसने मौन कर्तव्य से कभी त्रुटि नहीं की। और इसी मौन कर्तव्य ने मुझे पशु से घोरपशु बना दिया। भोजन, वस्त्र, विश्राम के बाद भी क्षणिक विलास अथवा सुरापान के पैसों लिए उसने जब-जब अपनी असमर्थता प्रकट की मैंने किस तरह के कष्ट उसे नहीं दिए ? उस दिन 'हँसी की किश्तें' की बाइंडिङ्ग और कवर पेज के लिए चारों ओर से निराश होकर घर आया—ताला बन्द दिखा। खादी भंडार गया, वहाँ नहीं मिली। क्षुब्ध-सा वापस फिरा आ रहा था कि अतुल से

ही पाँच हज़ार की बिक्री और उसकी सख्ती जो तरक्की को ठुकराकर उसने की थी, इसपर मार्मिक व्यंग्य सुना।

तिलमिलाकर मैंने जगन्नाथ के साथ घर के बुलाए देशी ठर्रे की कई बोतलें खाली कीं। मन में अपमान-क्षोभ की ज्वाला, तन में तरल अग्नि का हलाहल भरे जब घर लौटा—वांछा को अपने ठाकुर के सामने फूट-फूटकर रोते पाया—दीनानाथ, दुखभंजन, पद्मनाभ, पुरुषोत्तम !

'तो यह तीसरी बार पुरुषोत्तम का आवाहन हो रहा है ?' नहीं चाहकर भी ऐसे फहड़ शब्द निकल गए।

मेरे पूछने पर बिना भय के ही उसने कह दिया—'पुरुषोत्तम के सिवा और कौन हो सकता है ?' मुझे लगा—यह जानबूझकर ही मेरा अपमान करने पर तुली है।

पहली खीझ तो विजय पर ही उतारी—'बता शाम से ही कहाँ था तू ?'

—'माँ के साथ आश्रम के संकीर्तन में गया था, पिताजी !' उसने रोते-रोते कहा—'हमें यह थोड़े ही मालूम था कि आप इतनी जल्दी आइयेगा, नहीं तो नहीं जाते, पिताजी !' नन्हे विजय को इसीपर मैंने मार-मारकर अधमरा बना दिया।

वांछा ने पहली बार आकर मेरा हाथ पकड़ लिया।

—'जिन हाथों में भरण करने की शक्ति नहीं, पीटने का भी अधिकार नहीं है उन्हें ? जो भी सज़ा देनी हो, मुझे दो। मेरे बच्चे पर हाथ मत उठाओ।'

—'क्यों ? बच्चे तुम्हारे ?'

—'जी हाँ, बच्चे मेरे। पिता का कर्तव्य कीजिए तभी शासित भी करेंगे।'

—'कानून मत सिखा मुझे। मुझे कानून से ये अधिकार प्राप्त हैं।'

—'लेकिन कानून ने ही इनके साथ कुछ शर्तें, कुछ पाबन्दियाँ भी लगा रखी हैं, जिनका पालन करके ही आप उसके अधिकारी हो सकते हैं, वर्ना नहीं।' अतुल और जगन्नाथ से ही संकेत पाकर मैंने अपने गुप्त शत्रु के लिए फेरीवाले से बारह आने में तेज़ चाकू, जो तरकारी बनाने

के काम भी आए और किसी समय आत्मरक्षा के लिए भी, खरीदा था।

कपड़ों में छिपा छुरा निकालकर मैंने कहा—'तो देख मैं कैसे अपना अधिकार लेता हूँ !'

जब उसके पेट से गर्म-गर्म खून बहकर मेरे हाथों में लगा तब मेरा नशा टूटा ! इच्छा हुई थी रो-रोकर आसमान उठाते इस विजय को मारकर अपना भी अन्त कर लूँ, तब तक द्वार पीट-पीटकर हार गए पड़ोसियों के संकेत से पुलिस भी आ पहुँची थी।

बेहोश वांछा को एम्बुलेंस पर लादकर सब ले गए। विजय की रुलाई से मर्म फटा जा रहा था, पर उसकी ओर बढ़ने के पूर्व ही मेरी मुश्कें कस दी गईं और विजय माँ के साथ अस्पताल में और मैं यहाँ खूनी हवालात में पहुँचाया गया।

मेरे रोकर यह कहने पर कि—'वांछा को एक बार देख लेने दो', मेरे मुंह पर कई करारे थप्पड़ पड़े—'हरामजादे, अब चलो थाने में, वहीं जाकर देखना।'

ऐसा कपूत मैं जन्मा कि बाप तक को गाली दिलाई !

मेरी आँखों को विश्वास नहीं आया, जब वांछा की पट्टी डाक्टर नीलरत्न ने ही की और हवालात में मुझसे आकर मिले—'यह क्या किया चिन्मय ?' स्वयं उमेश ने मेरे कई छिपे पापों और अत्याचारों की आँखों देखी गवाही दी है, जो मैंने वांछा पर किए हैं। सभी मेरे खिलाफ हो उठे हैं ! पत्नी मरकर जी उठी। बेटा मेरा मुखबिर बना, आत्मीय घृणा से मुंह फेर चुके हैं ! भगवान को आज तक कभी माना ही नहीं ! फिर किसके भरोसे, किस आस्था के लिए जीना चाहता हूँ ? क्या मृत्यु को सहर्ष वरण करने का साहस मुझमें नहीं है ? क्यों ? मैं एक बार फिर जीना चाहता हूँ, किसके लिए ? क्या मेरा अन्तर इतना कलुषित है ? आत्महत्या नहीं, स्वयं प्राप्त मृत्यु को अंगीकृत करने में कतरा रहा हूँ।



तीसरी परत

पुरुषोत्तम
चीफ जस्टिस क्वार्टर्स

रात के दो बजे हैं। सारा वातावरण शान्त है। धरती और आकाश के बीच नींद और सपनों का जो अथाह तिमिर-समुद्र लहरा रहा है, उस-पर तैरते मेरे प्रश्वासों के चेतन स्वर उस निरन्तर अदृश्य युद्ध के साक्ष्य हैं, जो आदिम युग से प्रकृति और मानव के बीच होता चला आ रहा है।

हमारे कंपाउंड में भी वही काजल का घोल किसीने छिड़क दिया है, ऐसा ही प्रतीत होता है। दूसरे कमरों से उठते-गिरते श्वासों के स्वर,

शंका और उद्विग्नता से काँपते उच्छ्‌वास जो निश्चय ही मेरी पत्नी के हैं, सुख और निश्चिन्तता में डूबे बच्चों के भोले-भाले श्वास-प्रश्वासों के स्वर भी आज अनजाने-अपरिचित-से लगते हैं, क्यों ?

दो बज गए हैं। अंधेरे में हाथ को हाथ नहीं सूझता, मगर घड़ी की रेडियम डायल चमक रही है। वातावरण में फुहियों की नमी है, मगर मन में कैसी आग फुंकी जा रही है। छवि के कमरे से असम्बद्ध उच्छ्‌-वासों के स्वर आ रहे हैं। लगता है वह जगी हो, और मेरे बारे में ही सोच रही हो।

मेरी इस दारुण व्यथा पर जिसके मर्म में एकसाथ जाने कितने शूल चुभ उठे हैं; मेरी प्रत्येक भावना के अक्स जिसपर अदृश्य रूप से उभर जाते हैं; मेरी हर गति का आभास जिसे अलक्षित विधि से हो जाता है, उस प्राण-प्रिय छवि तक ही नहीं, शोभा और आभा तक भी मेरी विराट् उदासीनता, मेरे दीर्घ मौन और मेरी व्याकुल अकुलाहट की छाया उतर आई है, वे शंकित चकित-सी हो उठी हैं।

जवानी के दिन बीत चुके, लेकिन दिल का दाग ज्यों का त्यों है। बल्कि याद के इस खरोंच से लहूलुहान हो गया है। टीसें जो आज तक मन ही में जब्त रहीं, आँखों से बूंद बनकर भी नहीं उतरीं, वे अब इन होंठों में भी नहीं समा पा रही हैं।

शोभा-आभा चकित हो अपने प्रौढ़ पापा की प्रत्येक हरकत लक्षित करती हैं। एकाएक गुमसुम हो जाना, सिगरेट के पैकटों का धुआँ बन-कर उड़ जाना, सूने कमरे में घंटों अकेले टहलना तो पुरानी आदत है। जब-जब किसी गुत्थी से सुलझना पड़ा है, कोई टेढ़ा मुकदमा आ पड़ा है, मुझमें ये ही प्रतिक्रियाएँ लक्षित होती हैं। लेकिन यह केस उन सबसे अलग है। इतने दिनों की कीर्ति, इतने ज्ञान और विवेक का मंथन बनकर आया है यह। कितनी पीड़ा और कष्ट है! और दफा तो उन सबों का अभिनय देखकर न्याय देता था। इस नाटक का एक प्रमुख अंग स्वयं बना हूँ, किस प्रकार अपने को अपने से अलग करूँ? योगक्रियाओं द्वारा ही यह अलगाव संभव है, लेकिन इतने दिनों की सिद्ध-साधना कहीं बाधा न बन जाए। नहीं-नहीं, वांछा मेरी बाधा नहीं हो सकती। नारी को इष्टदेवी बनाकर शक्ति

की जो आराधना मैंने की है, वांछा में ही उसकी प्रथम झलक देखी थी। सिद्धियाँ मात्र साधी जाती हैं, उनका भोग नहीं किया जाता। उनका प्रयोग बहुजन सुखाय और हिताय ही होता है। पर वांछा को त्यागकर क्या मैंने लोक-कल्याणी की वह सिद्धि प्राप्त कर ली ?...उसने तो अपना कल्याण भी नहीं किया !...बावली ! चिन्मय ने अपने वक्तव्य में लिखाया है, सुहाग की प्रथम रात्रि में ही उसने कहा था, 'मैं दूसरे की हूँ।'

रोष में, प्रतिहिंसा की भावना में कही गई उस बात को उसने वेद-मंत्र बना डाला। काश ! यदि उस दिन उसके पत्र को ठंडे दिल से पढ़ा होता ! कान्त की कौन-सी स्वार्थ-सिद्धि हुई इस बलि से ?

रहस्य जैसे फटा-फटा पड़ रहा है। पता नहीं जब इसका उद्‌घाटन होगा, कितने मौन भेद खुल पाएँगे !

क्या करूँ ? मेरी विवेक-शक्ति, न्याय-बुद्धि कहाँ लुप्त हो गई ? इतने दिनों का कसा तुरंग जब एक क्षण में ही बाग छुड़ाकर भाग चला, मैंने क्यों ढील दे दी ?...मैंने इस कौतूहल को वहीं क्यों नहीं दफना दिया, जहाँ से वांछा के इसी नगर में रहने की बात सुनी ? कैसे दफना देता ? जिन्दा कब्र तो मैं स्वयं ही बना हूँ। जाने कितनी यादें मर-मर-कर जी उठी हैं मुझमें ! और भी कई दफा, याद की लाशें मुझमें तड़पी हैं, छटपटाहट की बेताबियाँ उभरी हैं, मगर कैप्स्टन सिगरेट की दो-तीन संख्या और जिन के दो पेग पर्याप्त रहे, उन्हें दमित और संयमित करने में। इतने पर भी दर्द का धुआँ नहीं मिटा तो छवि की रेशमी बाहों ने मेरे दुखते मन को सहलाया है। उसकी विश्वास-भरी आँखों ने उसे रास्ता दिखाया है और उसके साहचर्य ने मेरी अंधेरी रातों को परमानन्द की चरम प्राप्ति दी है।

पर वांछा सदा से ही इन सबसे ऊपर रही है। छवि ने इसे लक्षित किया है, और मेरी कुंठा-ग्रन्थि खोलने का प्रयास किया है। उसके अनुसार पत्नी की प्राप्ति सुलभ है, प्रेयसी की दुर्लभ। पत्नी बरती जाती है, प्रेयसी सिर्फ सोची जा सकती है। पत्नी प्रेम का प्रकटीकरण देती है, प्रेयसी गोपन रहस्यमयता !

वांछा को मैंने अपने से दूर पाकर ही समीप बनाया है। पर आज भावना की यह निकटता जैसे झूठे बहलावे की वस्तु बन गई। क्या है उस साधारण अत्यन्त साधारण-सी नारी में ? क्या यही तो नहीं कि पत्नी स्वयं आवाहन करती है, प्रेयसी आह्वानों को भी छलती है ?

मुझे यह क्या हो गया है ? मैंने चार पेग लिये, सुरूर नहीं आया। और जब दिमाग की सोई ग्रन्थि सुरा की सचेतनता से झनझनाकर सक्रिय नहीं होती, फिर पीकर होशो-हवास खोने का कायल मैं नहीं हूँ।

निश्चय ही मन में व्याप्त हुई इस चिरन्तन व्यथा को दूर करने की सामर्थ्य शराब में नहीं है। मेरे हारे-थके और बोझिल मन को तब छवि अपने स्नेह-संवेग से शान्त और सचेतन बनाती रही है। मैंने देखा, बहुत दिनों के बाद आज सन्ध्या में छवि ने इतना उत्प्रेरक शृंगार किया था। आज जैसे उसकी शिराओं में यौवन सम्पूर्ण ज्योति उकसाकर जग उठा था। ईर्ष्या की अवधि में नारी का सम्मोहन बढ़ जाता है। ......

वांछा ने भी बंजारिन की ईर्ष्या से प्रेरित होकर स्वर-साधना की थी। छः मास में ही वह वैसी नकल कर चुकी और साल पूरा होते न होते जब उसकी छत के नीचे से गुजरा, लगा सृष्टि की सम्पूर्ण करुणा किसीका पिघला हुआ हृदय बनकर मेरे कानों में प्रवेश कर रहा हो ? कौन है यह ? जानता था मर्म के तारों को मर्मवासिनी को छोड़ और कोई नहीं छू सकता, फिर भी श्यामा की उपस्थिति की झेंप मिटाने के लिए मैंने पूछा और उसका नाम सुनकर होंठों में ही हँस पड़ा था—'हाँ, अब ठीक कोयल हो चुकी, तुम्हारी सखी !'

छवि ने भी वांछा को जीतने के लिए शृंगार किया था। मुझे अपने कर्तव्य के लिए उसे यह आश्वासन भी देना था कि उसका स्थान सुरक्षित है, लेकिन मुझपर विरक्ति के बादल घिरे थे। उसे देखते ही वांछा की ईर्ष्या कुहक उठी, और मैं निरीह, व्याकुल, दीन-सा उसे अपलक निहारता रहा। फिर एकाएक उमड़कर जो रुलाई आई, छवि काँपकर काम के बहाने चली गई।

आज सचमुच नीरव एकान्त चाहता हूँ।

आज रविवार है। छः दिन पहले से ही कितनी प्रतीक्षा के बाद

यह वार आता है। बच्चों की उत्सुकता और प्रसन्नता बाँध तोड़कर फूट निकलती है। पिकनिक, पार्टी, सिनेमा, मार्केटिंग या नौका-विहार—कोई न कोई मनोरंजन आज के दिन खुल खेलता है, मगर आज प्रातः से ही मैं कमरे से बाहर नहीं निकला। छवि से पहले से ही कह रखा है, बड़ा ही गम्भीर मामला है। घर के नौकर-चाकर तक इस गम्भीरता से ग्रस्त हैं। बच्चे बरामदे के दूसरे कोने से आकर झाँक जाते हैं। शोभा-आभा बड़ी हैं, बहुत कुछ समझ लेती हैं—तभी उनपर भी एक गंभीर छाया उतर आई है। लेकिन औरों को यह ज्ञान कहाँ ?

वे तो छोटे-छोटे भोले-भाले बच्चे हैं। उनपर गुपचुप डाँट पड़ती रही। शोभा और आभा के साथ छवि ने उन सबको घूमने भेज दिया, मेरे मन पर बर्छे चलते रहे, पर चुप-निष्क्रिय पड़ा रहा। मन में विरक्ति का तूफान उमड़ पड़ा है। मैं यहाँ जशन मना रहा हूँ, कोई मेरे ही निमित्त इतनी सजा भुगत रहा है। किसीके लिए मेरी कुछ पंक्तियाँ ही जीवन-मरण का दाँव लगा देंगी।

कैसे-कैसे मामले मैंने निबटाए हैं, पर यह मामला मेरे धीरज, साधना, गर्व और सम्मान, सबकी कसौटी है।

···इतने दिनों तक गीत की भूली कड़ी-सी मन के राग से विस्मृत होकर फिर जाने कहाँ से तुम प्रकट हो गई, वांछा ?···मैं उसे क्यों सोचता हूँ ? वह अब मेरी कौन होती है ?

यही तो अपने से भी पूछता हूँ कि वांछा मेरी कौन होती है, जिसका उत्तर-मात्र मेरे बड़े-बड़े आँसू हैं, अन्य कोई शब्द-समाधान नहीं।

मर्म के गोपन तारों पर कौन-सी व्यथा-भरी रागिनी छिड़ गई है, जिसमें मेरी आज तक की अर्जित मर्यादाएँ डूब रही हैं। लगता है जैसे पथ-भ्रष्ट हो जाऊँगा।

जीवन में जहाँ कहीं भी भ्रम और द्वन्द्व का अन्धेरा छाया, मेरे दिग्भ्रमित कर्तव्य को छवि की आँखों ने नई राह दी है। वांछा की याद ने धीरज की टूटी वल्गा को हाथों में फिर से थमाया है। आज मुझे क्या हो गया ? सारा गर्व, कर्तव्य और विवेक की सारी बातें नींव-हीन भवन की दीवारें थीं ? जिस दिन वांछा की बेवफाई से दिल चूर-चूर हो गया

था, सोच रहा था फिर लौटकर वहीं चला जाऊँ और एक विदेशी सुन्दरी लाकर लोगों को दिखाऊँ, तब भी ऐसा कष्ट नहीं हुआ था। उस दिन भी इसी विवेक-बुद्धि ने कहा था—उसकी बेवफाई का करारा जवाब जीवन के चाहे जिस किसी भी मोड़ पर उसका अपमानकर, उसके मन में टीस उठाकर, उसे जी-भर रुलाकर ही दूँगा। आज प्रतिशोध का अवसर जब अपना मुँह उघाड़कर आया है, देखता हूँ, वह दूसरा नहीं, अपना इतना आत्मीय, इतना प्रिय और अभिन्न है, जिसे प्रतिशोध की क्रूरता नहीं, अपने यश, कर्तव्य-कौशल की बूँद-भर भी दे पाऊँ तो सम्पूर्ण जीवन सार्थक हो जाए।

इसी प्रतिशोध की भावना से किसी दिन मैंने वांछा के करुण आत्म-निवेदन को छल समझा था। उसे मायाविनी कहा था और उसकी अत्यन्त विह्वल कातरता की हँसी उड़ाई थी। मैंने वांछा की सम्पूर्ण अतृप्ति, सारे अभाव को छवि से ही ढक लेना चाहा। इसमें सफल भी हुआ, लेकिन पता नहीं किस क्षण यह जख्म फिर उभर उठा।

मानता हूँ, नारी पुरुष के जीवन की वह दो उपलब्धियाँ हैं जो भोग के चोर दरवाज़े से लेकर योग के सिंहद्वार तक उसकी साधना को तौलती, परखती और प्रदीप्त करती है। जीवन-स्वर्ण की मूर्ति गढ़ने का साँचा है वह।

काम और निष्काम, त्याग और अनुराग, ये ही दो तटबंध हैं जीवन-प्रवाह के। छवि मेरे सम्पूर्ण काम की उपलब्धि है तो वांछा मेरी अपूर्ण साधों की पूर्ण सिद्धि। एक उपभोग्या होकर लोक और परलोक की भी अधिकारिणी है, दूसरी अन्तर्वासिनी बनी जन्म-जमान्तर की स्वप्नप्रिया है।

नर और नारी, नारी और नर सम्पूर्ण सृष्टि में इसी तत्त्व का मर्मोद्घाटन हो रहा है। ज्ञानी जिसे कठोर ज्ञान से, योगी दुरूह योग से और भोगी जिसे सहज भोग की संज्ञा देकर जीवन में प्राप्त करते हैं, और प्राप्त करने के बाद उससे मुक्त होने की कामना करते हैं, वह इसी शक्ति की दो मुद्राएँ हैं। यह विराट् प्रकृति विराट् पुरुष के संयोग से ही गोचर, पार्थिव और सचेतन सृष्टि की रचना कर सकी है, जिसे सत्य,

शिव और सुन्दर कहा गया है।

जिस नारी के मांसल स्पर्श में ब्रह्मानंद की सुख-सिद्धि योगियों को भी अभीष्ट रही है, उसे ही नरक का द्वार कहकर त्यागने का विधान भी योग की ही परिभाषा है।

बातें दोनों ही एक-सी हैं, अर्थ की परिभाषा दो तरह से की गई है। नारी की प्राप्ति कर उसे आत्मसात् करना ही सिद्धि है—चाहे वह मानवी नारी हो या सिद्धिदायिनी अनंतशक्ति! अपने में दुर्बल, अविश्वासी साधक ही नारी को त्याज्य और अवहेलित समझते हैं। गुरुदेव का कहना है—विराट् पुरुष शिव द्वारा आदि मातृशक्ति का युग्म प्रतीक है—भव से मुक्ति। शिव विग्रह का निर्माण, जिसे ध्यान कर, साधना कर, मनुष्य भोग के भ्रामक बन्धनों से मुक्त होता है, उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है, उसका मूलाधार क्या है?

कहते हैं, वामपंथियों को नारी-शव के साथ संभोग इसीलिए कराया जाता है कि जीवन और भोग की भंगुरता का आत्मज्ञान उनमें उदय हो।···मेरी प्रमत्त अवस्था में गुरुदेव का आगमन हुआ। पिताजी के जीवन-काल से ही मुझपर उनका स्नेह रहा है। बचपन में ही, उनकी मृत्यु के बाद गुरुदेव का पथ-निर्देश मेरे जीवन का प्रकाश-स्तम्भ रहा है। फिर वैसे समय में वे कैसे भूल जाते?

स्नेहमयी माँ का स्थान देनेवाली भाभी तक के मन में मेरी यह हार अनेक लड़कियों को देख-सुनकर नकार जाने का अच्छा-खासा जवाब था। वे मेरी बेकली देखकर आँचल से होंठ ढँक लेतीं। लेकिन भैया समझते थे, मैंने क्या खोया है?

जिसे देखते ही आत्मा पुलकित न हो जाए, मन पुकार उठे—'यही तो जन्म-जन्मान्तर की संगिनी है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई जीवन-संगिनी नहीं हो सकती।' गुरुदेव के इसी कथन को प्राणों की गूंज बनाए मैं लड़कियों को देखता, परखता और मुकरता रहा। कभी मैंने आसक्ति नहीं दिखलाई, फिर भी लोगों ने मुझे गलत समझा।

वांछा को पहली निगाह में ही देखकर मेरे मन को कुछ छू गया। फिर भी लगातार तीन वर्षों तक मन की माँग को विवेक की कसौटी पर

कसता रहा। अपने को बहुत-बहुत बाँधने की कोशिश की, पर उस किशोरी में जाने कौन-से तत्त्व थे, जिसे देखते ही लगता 'कंकण-किंकिण नूपुर-धुनि' बजाती कोई इस जीवन-वसंत में आ रही है। अपने को पूरा-पूरा निर्लिप्त रखकर भी मन ही मन उस अज्ञात यौवना की सुध में डूबा रहा। कहते हैं, अन्तर की आवाज़ प्रिय के हृदय पर ध्वनित होती ही है। योगशास्त्र के अनुसार अपने मन में जिसका ध्यान कर अपने जिन गुणों का आरोप इच्छित व्यक्ति पर किया जाता है, उसपर वे अवश्य ही प्रतिफलित होते हैं।

पहली भेंट में अनायास ही तितली के पंख कतर लेने की बात, अनजाने ही तीर की तरह मुँह से छूट गई थी, साल पूरा होते न होते वह मेरे कानों में कूक भर गई। दूसरे वर्ष उसकी स्वर-साधना से चकित हो मैं उसे कोयल कह बैठा और तीसरे वर्ष के दाह के वे दिन वांछा की सारी तड़प और बेकसी को जानकर भी निष्ठुर-निर्दय मैं इसी पद की यश-लिप्सा से विदेश चला गया। 'भावना से कर्तव्य बड़ा है' और इसे ही ध्यान में रखकर जब लक्ष्य-सिद्धि की आशा लिए मैंने वांछा की खोज-खबर ली, रत्नाकर ने मुझे अपने एक मित्र श्रीकान्त के वे पत्र दिखलाए, जिनमें वांछा और चिन्मय के प्रेम व्यापार का पूरा विवरण था।

उस दिन यह पौरुष कहाँ सोया पड़ा था? लोक-कथा के उस डोम की तरह, जिसने किसी कुमारी से खेल-खेल में ही ब्याह का वचन ले लिया था, मंडप पर प्रकट होकर विप्लव मचाने क्यों नहीं जा पहुँचा—'पहिल बियाही मोर।'

लेकिन उस डोम के पास उसके बचपन की अँगूठी थी, जो कुमारी ने उसे प्रेमोपहार-स्वरूप दी थी। मेरे पास वांछा का कौन-सा चिह्न था?

जब उसने अपना प्रेम-प्रमाण दिया तो मेरी आँखों पर से उसका वह रूप धुल चुका था।

···इसे संयोग ही कहूँ, जब बिहारी का आमंत्रण पाकर उसके साथ क्रिसमस बिताने के लिए उसके गाँव जा रहा था, मैंने सहज शरारत-भरे स्वर में पूछा था—'तुम्हारे यहाँ कोई लड़की-वड़की तो नहीं है?'

और क्रोध और हँसी का मूर्त रूप बना बिहारी जितनी जली-कटी सुना गया, आज भी उसके दंश चुभते हैं—'हाँ, एक बारह साल की भतीजी है मेरी, जो तुम्हें भी चाचा कहेगी। क्या उसीसे रोमांस करोगे ? ऐसे गए-गुज़रे हो तुम ?'

मगर वांछा ने तो कभी चाचा नहीं कहा था मुझे ? क्यों ?

जलपान की दो तश्तरियाँ लिए देर से खड़ी मौन बेबी का लाल-पीला होना मैं मजे ले-लेकर देखता रहा। उन दूध से धुले सफेद नयनों में, उनकी गहरी काली पुतलियों में जाने कैसी चमक थी, जो मेरे प्राणों में गहरी से गहरी उतरती गई।

और अन्त में उसका मेरी मूँछों को लक्ष्य कर खिलखिलाकर भाग जाना, लगता है कल की ही बात हो।

उस दिन उसका दबे पाँव आना, आँचल के छोर से पसीना पोंछने का उपक्रम, फिर रुक जाना, तकिये पर मेरा सिर रखना और अन्त में कान में पाइप ठूंसकर भाग जाना, क्या है ?

इसके दूसरे ही दिन जब बिहारी ने उसे कलम ढूंढ़ने को मेरे कमरे में भेजा तो मैंने उसे क्षण-भर पकड़ना चाहा था।

—'ठहरो अभी तुम्हारा सारा नटखटपन छुड़ा देता हूँ, इसी पाइप से बाँधकर छोड़ देना चाहिए तुम्हें।'

—'और पीटना नहीं ?' उसकी आँखों में अभिमान की तरलता थी। मेरा मन भीग उठा था।

तब तक उन सीपी-सी आँखों से दो मोती उसके गुलाबी कपोलों पर ढुलक आये थे। श्यामा छाया की तरह उसके पीछे लगी रहती थी, उसने कहा था—'चाचा के पाँव छूकर माफी माँग ले।' और उसने सबकी नजर बचाकर उसे अँगूठा दिखाया था, मेरी दृष्टि से पकड़ी जाने पर लाल होकर भाग गई थी।

बिहारी को मैंने रुमाल और तकियों के गिलाफ काढ़वा देने के लिए दिये थे। उस पगली ने चारों रुमालों के कोनों पर Ass, Fool, Monkey और Bear काढ़कर और तकिया गिलाफ के बीचोंबीच एक भेड़ का रेखाचित्र काढ़कर चुपके से मेरी किताबों के बीच

रख दिया था।

दूसरे दिन मैंने धमकाया—'बिहारी को दिखला दूँ, तुम्हारी कारस्तानी ?'

उसका चेहरा फक हो गया—'मैं उधेड़े देती हूँ।'

—'पहले कान उमेठकर प्रतिज्ञा करो'—मैंने गम्भीरता से कहा था।

उसका क्षण-भर रुआँसी होकर रहना, अचानक आँखों में बिजली की चमक और फिर बड़े भोलेपन से मेरी आँखों में अपनी मासूम निगाहें डालकर यह कहना :

—'कान उमेठूँ ? किसके ? आपके ? नहीं, नहीं ऐसी गुस्ताखी नहीं करती मैं।' और मैं खड़ा-खड़ा उसका भाग जाना देखता रहा।

मैं गम्भीर होकर सोचा करता। बिहारी का विश्वास, वांछा का अल्हड़पन। उसके अविकसित अंगों से हिलोर लेती लापरवाही से पहनी गई साड़ी उसके गिर्द लिपटकर इस तरह लहराया करती जैसे प्रातः-कालीन कलियों को हलराती-दुलराती हवा की तरंगें !

हमारे बीच बारह वर्षों का व्यवधान था ! एक युग का अन्तराय जो वियोग की अनन्त दुर्लंघ्य प्राचीर बन गया ! लेकिन अभिव्यक्ति की पहल उसीने की।

मनोवेत्ताओं के अनुसार संधिकाल में प्रेम जब अपने ऊपर की मुँदी पपड़ी खोलता है, उसका आधार कोई प्रौढ़ व्यक्ति ही होता है। वांछा के अनजान अन्तर में प्रेम का उदय हो रहा था, कैसे उसे प्रेम मान लेता ? फिर क्या जानता था दो वर्षों में ही वह इस तरह बदल जायेगी ?

बिहारी ने जब भीगे शब्दों में मुझे यह उलाहना दिया कि 'आखीर तुमने अपनी आदत नहीं छोड़ी,' तब तक मुझे विश्वास नहीं आया।

मैंने वचन दिया था—'आई० सी० एस० की डिग्री लेकर लौटते ही ब्याह कर लूँगा' और मालूम है, श्यामा ने मेरा आश्वासन-संदेश वांछा तक पहुँचा दिया था।

फिर इतनी जल्दी क्या थी ? कैसे बदल गई वांछा ?

माँ-बाप की छाया बचपन में ही छूट चुकी थी। भाई-भावज के वियोग का गम नहीं था, पर वाग्दत्ता वांछा को जब उस गांव में छोड़-

कर आने लगा, लगा था अपनी जीवनी शक्ति छोड़े जा रहा हूँ।

श्यामा से ही मालूम हुआ था, उसपर कठोर पहरा लगा है। अपनी लाज और पीड़ा से लड़-लड़कर वह मूर्छा में खो जाने लगी है। और, बेहोशी की हालत में मेरे सम्बन्ध में अनर्गल बड़बड़ाया करती है!

जिस उम्र में लड़कियों को हिस्टीरिया होता है, वांछा उससे बहुत छोटी थी, पर मूढ़ घरवालों ने उसकी काफी गत बनाई।

मेरे प्राण रोया करते, बस, एक बार उसे अपने पास पा जाऊँ तो जीवन-स्नेह की सम्पूर्ण विश्वास-धारा उसके डगमगाते प्राणों में भर दूँ, और वांछा क्षण-भर में ही रोगमुक्त हो उठे।

यह रोग उसके एकांगी मानसिक द्वन्द्व का प्रतिफल था, मुझपर बिहारी का यह आरोप कितना सही उतरा—'मेरी इतनी नन्हीं-सी बेबी को तुमने जाने क्या सुँघा दिया, वह उसे झेल नहीं पाई।'

विदेश के अपने एकान्त कक्ष में, भीड़-भरे उत्सव के क्षणों में भी, मुझे उसीका ध्यान आता रहता। लगता मेरे कानों में दिन-रात तानपूरे पर गीत की वह कड़ी तैरती आ रही है। मेरी कोयल उसकी आवृत्ति कर अपने जीवन-वसंत में मधुमाधव का मनुहार कर मुझे पुकार रही है!

छवि दुःखी है। इसलिए नहीं कि वांछा के लिए मैंने धीरज और संयम की बाग तुड़ाकर यह आग मोल ले ली है। वरन् इसलिए कि वह समझती है कि अब मेरी अन्यमनस्कता दूर नहीं कर पाती।

उसे किन शब्दों में समझाऊँ? मेरी पीड़ा का कारण वह नहीं, स्वयं मैं हूँ। आँखों की राह समाकर सम्पूर्ण जीवन-क्षितिज पर छा जाने-वाली नारी, जिसके बिना मैं एकदम अधूरा हूँ, वह छवि ही है। मेरे सम्पूर्ण आवेगों और उद्वेगों को जिसने झेलकर नहीं, वरन् अपने कौशल और अवर्णनीय स्नेह-स्पर्श से मोड़ देकर नये चौखटे में कसा है, वह क्या मेरे प्राणों से कभी भिन्न हो सकती है? छवि का तात्पर्य ही अजित पुरुषोत्तम है। उसे किस प्रकार समझाऊँ?

मेरे प्राणों की उक्ति या वाचा-शक्ति इस मौन में ही लुप्त हो जाना चाहती है। चाहता हूँ रातों-रात मुझे कोई व्याधि आ घेरे कि मेरी

जीभ ऐंठ जाए। मेरे शब्द मूक हो जाएँ और मेरे हाथ अशक्त होकर भूल जाएँ। प्रातः ही एक हल्ला हो कि मैं फैसला देने के काबिल नहीं रहा और यह 'केस' फिर किसी ऐसे व्यक्ति के हाथों जाए, जिसे वह उसी तरह सोचे, समझे और बरते जैसे मैं अन्य दूसरे मुकदमों पर फैसला देता आया हूँ।

वांछा की नमित-दलित दृष्टि जब अपने अत्याचारों के मौन भार से त्रस्त मेरी ओर उठेगी, कैसे झेल पाऊँगा उसे ? उसके वे पतले सुकुमार होंठ—जिन्होंने मेरे दिल के कठोर छिलके को उतारकर उसमें कूक भर दी थी, उनसे जब अन्याय और मुक्ति की वाग्धारा फूटेगी, कैसे सह पाऊँगा मैं ?

चिन्मय के प्रति विराट् घृणा को मैं वांछा के 'प्रियतम' की श्रद्धा से जीत चुका था, उन धड़कनों में मैंने वांछा की अछूती धड़कन ढूंढ़ने की चेष्टा की थी, कैसे यह कह सकूँगा, इन्हें कठोरता से रौंद दो।

एक जमाना था, सम्पूर्ण महत्त्वाकांक्षाएँ उसकी ओर उन्मुख हो देख रही थीं, आज वह पतित है, नीच है और हत्यारा है। इसके मूल में बिना प्रवेश किये ही मैं इन ऊपरी लहरों को टटोलकर क्या न्याय कर पाऊँगा ?

और सबसे दुस्सह तो होगी वह आयु, अनुभव और वार्द्धक्य से पकी वृद्ध दृष्टि ! वांछा के पिता को एक दिन अपने द्वार से लौटा दिया था, फिर जब मेरे मान का धनुष झुका, उन्होंने प्रत्यंचा तान ली।

बिहारी के मित्र की हैसियत से सबसे पहले दिन, गाँव की उस बैठक में जब उनसे मिला, ऊपर से नीचे तक गौर से मुझे देखकर वे मुस्करा दिये। घनी मूँछों के गिर्द फैलकर मुस्कान उनके सम्पूर्ण मुख पर छा गई, और उनकी इस हँसी में सबसे अधिक योग देनेवाली थी उनकी पैनी दृष्टि जो एक सालीसिटर की अपनी खास लियाकत होती है।

—'तो एकदम आई० सी० एस० बन जाओगे ?'

मैंने भी मुस्कराहट में ही उत्तर दिया।

—'कुछ दिनों तक प्रैक्टिस कर लेते। किसी अच्छे शहर में, प्रसिद्ध वकीलों के साथ कुछ अनुभव अर्जित कर लो। बिना लहरों को झेले जैसे

समुद्र का सही अन्दाजा नहीं होता, मुकदमे की गहराई और दाव-पेच में प्रवेश करने के लिए जरूरी है कि न्याय करने के पहले उसे काटने का तर्क समझ लो। तभी सफलता का गुर जान पाओगे। घोड़े की चाल का बिना अन्दाज़ किये ही एकदम से चाबुक मार देने से तो वह भड़क ही उठेगा।

—'लेकिन सवार यदि दिलेरी और बुद्धि से काम लेनेवाला है तो आवश्यक नहीं कि सवारी के पहले घोड़े का अध्ययन करने बैठे ही। इतना-सा तो मामूली साईस भी कर लेता है।'

लगा वे मेरी बात से कट-से गये। घनी मूँछों से होकर पैनी दृष्टि और उतनी ही बेधक मुस्कान उन्होंने मुझपर फेंककर कहा था—'अच्छा, भगवान ने चाहा तो किसी दिन स्वयं ही तुम्हारे इजलास में जाकर तुम्हारी इस सवारी की थाह लगा लूँगा। तभी जान पाओगे एक कोरे जज और वकील जज में कितना अन्तर होता है। मारे जिरह के तुम्हारी धुर्रीं उड़ा दूँगा।'

सुना है वांछा की ओर से जितने वकील हैं, उनमें वे स्वयं भी हैं। मैं भी बाईस वर्षों से न्याय को ठोक-बजा रहा हूँ, मगर उस पैनी दृष्टि में, उन रोबीली आँखों में जिनमें अब आँसू और चिन्ता के लाल डोरे पड़ गए हैं, मेरे प्रति कितना उपहास होगा? कितनी व्यथा होगी? उन्होंने मेरी मूँछों को लक्षित कर कहा था—'भली मूँछें हैं तुम्हारी। व्यक्तित्व पर रोब नहीं रहा तो क्या फायदा मर्द बनने से? मगर इन्हें विलायती हवा में सुरक्षित रख सकोगे?'

आह मेरा सिर फटा जा रहा है। अभी द्वार पर छाया-सी डोल गई है। छवि ही होगी। हाँ वही है। चुपके आकर मुझे सोया जानकर तेज लाइट ऑफ कर धीमी हरी रोशनी कर गई है। मेरे ललाट पर यूडी-कोलोन जैसा कोई द्रव लगाकर केशों को सहला गई है और बन्द पलकों के भीतर से ही मुझे बोध हुआ है—मिनटों तक झुककर उसने बड़े ही प्यार और ममता से मेरे चिन्ताग्रस्त मुख को अपनी पलकों से सहलाया है! फिर कोई संकेत नहीं पाकर जाते-जाते मेरे कंधों को थपथपाकर झुककर मेरे कानों में फुसफुसाकर कह गई—'सावधान, जरा भी कम-

ज़ोरी नहीं आये। न्याय केवल न्याय है। अपनी किसी भी दुर्बलता से उस लौ को थरथरा मत देना।'

छवि मेरी निद्रित चेतना को सुझाव दे गई है। मैं सोया ही कब हूँ! नींद तो जैसे कपूर की तरह उड़ गई है। चैन और शान्ति सभी चुक गई है। छवि वस्तुतः मेरी सह-धर्मिणी है।

वांछा के प्रति मेरे मोह से ऊपर मेरा विवेक है। मेरे विवेक और संयम की वल्गा पकड़कर एक चंचल किशोरी मुझे चुनौती के चितवन से देख रही है, जिसके बन्द होंठों से मुस्कान की परतें खुल रही हैं, और मेरे कान में उन सुकुमार पतले रेशमी होंठों को सटाकर 'कूऽऽ' करके भाग जाती है।

भारतीय संस्कृति के रंगों की विविधता ही उसकी सर्वयुगीन व्यापकता का रहस्य है। यहाँ एक ओर प्रेम के उच्चासन पर स्वकीया सीता की वन्दना की गई है, तो दूसरी तरफ प्रेमोन्मादिनी परकीया राधिका की प्रतिष्ठा भी उसी गौरव और श्रद्धा से हुई है। पंचकन्याओं में उन नारियों को प्रातःस्मरणीय माना गया है, जिनमें सबकी सबने अनेक पुरुषों का सहवास प्राप्त किया है। तो वहीं यह भी विधान रखा गया है कि—'अष्टवर्षा भवेत् गौरी' तथा मात्र आवरण से ही सीता का वेश बनानेवाली सती को हवनकुंड में जल मरने का प्रायश्चित्त भी दिया गया है। सहस्र गोपियों और पत्नियों से रमण करनेवाले कृष्ण योगी-राज हैं और पत्नी के बिना धार्मिक कार्य की पूर्ति के लिए राम को सोने की पत्नी-प्रतिमा बनवानी पड़ी। भोग में योग और योग में भोग की गोपनीयता मानकर परमानन्द की प्राप्ति की रहस्य-साधना और कहाँ मिलेगी?

काम के अनेक गूढ़ रहस्यों का अंकन करनेवाली कला जहां एक ओर छिछले कामुक हृदय में कामुकता का ज्वार उठा देती है, वहीं पहुंचे हुए मनस्वियों की मुक्ति का द्वार खोलने की निकष-रेखा भी सिद्ध हुई है।

मैंने जीवन के भोगों में ही परमानन्द-प्राप्ति की साधना स्वीकारी है। चेष्टा करता रहा हूं, इस मोह के ऊपर मेरा व्यक्तित्व तैरता रहे। मैंने

अपार धन कमाया है। लक्ष्मी-सी सुदर्शना पत्नी मुझे प्राप्त है। चाँद-तारों की तरह बच्चे मुझे प्राप्त हैं। समाज में मेरी आस्था है, मैं स्वयं अपने से सन्तुष्ट रहा, लेकिन इन सबके ऊपर वह क्या है, जो भीतर ही भीतर मुझे कचोटती रहती है? जवानी ढल गई, उसकी प्यास नहीं मिटी। आज भी अखबार के कालमों में रेडियो प्रोग्राम में 'वांछा प्रिय-वादिनी' का नाम ढूँढ़ा करता हूँ। पहले वह स्वयं करता था, अब छवि स्वयं ही मेरी टेबिल पर के कैलेंडर में लाल स्याही से उस 'तिथि कोष्ठक' में समय लिख देती है। फिर मैं लाख-लाख कामों के बीच समय निकाल लेता हूँ।

मानता हूँ, अब वह स्वर-माधुरी और भाव-तन्मयता वांछा में नहीं रही। लगता है, शोषण, पीड़ा और चिन्ताओं के कष्ट ने उसे झकझोर डाला, फिर भी एक स्वर है, एक पीड़ा है, जो लगता है मेरी अपनी है।

पता नहीं पिछले महीनों में कौन-सा लक्ष्य साधकर शोभा ने ठीक रेडियो के समय में, जब वांछा ने पुरानी तन्मयता से अपनी कविता का सस्वर पाठ किया था, टेप रिकार्डर में उसकी आवाज़ भर ली। फिर रात में खा-पीकर जब चाँदनी में कुर्सी डालकर बैठा, 'वांछा' का स्वर सुनकर चौंक गया! जानता हूं मेरी बिटिया ने मेरी व्यथा को लक्ष्य किया है। छवि इतनी हल्की नहीं, वह तो मेरी ढाल है। आज भी शोभा के कमरे से उसके स्वर छन-छनकर आते हैं:

साथी, भूल न जाना
घेर-घेर तम-भ्रम जब आये,
यह जीवन की शिखा कँपाए,
रीते नेह न बुझे जोत यह
कभी भूल मत जाना।

गुरुदेव भी कहा करते हैं—'अनुराग प्रिय-प्राप्ति का सहज मार्ग है, पर आसक्ति हारकर बैठ जाने की दुर्बलता।' इस आसक्ति के जाल से उबारने वाली आस्था मेरी यह छवि ही है। वांछा तो दूर नक्षत्र-लोक में विहँसनेवाली मेरी वह शक्ति है, वह सिद्धि है, जिसे जीवन-साधना के इस आश्वासन से ही प्राप्त करता रहा हूँ।

वे दिन नहीं भूलते, जब उमंगों से भरे मैंने जहाज़ से कूदकर देश की धरती पर पाँव रखे ही थे कि रतन ने मुझे अंक में भर लिया था।

—'कहो मेरी कोयल कैसी है ?'

रतन धीरे से हँस दिया—'बसन्त-बहार शाश्वत है अजित,' (वह हमेशा मुझे अजित ही कहता आया है, अन्य मित्रों जैसा नाम का अन्तिम शब्द पुरुषोत्तम नहीं।)

मेरे प्रश्न से फैले नेत्रों को देखकर उसने कहा :

—'कोयल उड़कर दूसरी डाल पर जा बैठी।'

और धीरे-धीरे उसने चिन्मय के प्रेम की सारी कथा सुना दी। मुझे लगा, किसीने पिघला शीशा कानों की राह प्राणों में उड़ेल दिया हो। ··

गुरुदेव ने मेरी प्रतिहिंसक पीड़ा को देखकर कहा था :

—'बस, नारी के दूसरे रूप पर ही हथियार डाल बैठे? आदि शक्ति किन-किन रूपों में तुम्हारा आह्वान कर रही है, उठो चलो, आओ मेरे साथ।'

दूसरे ही दिन मैंने अपनी मोहाविष्टता से जगकर देखा—मैं रामगढ़ कांग्रेस पंडाल में 'बापू' के चरणों में झुका हूँ। फिर मंच पर की अन्यान्य स्त्री-मूर्तियों के बीच दो स्निग्ध, सतेज आँखों ने मुझे पुकारा, उन्हें चाहकर भी अनसुना नहीं कर सका। घंटे-भर के बीच ही चौंक उठा, जब माइक पर उन स्निग्ध आँखोंवाली के होंठों से आग बरसाते शब्दों के प्रवाह झर रहे थे। जोत-सी जलनेवाली आँखें समिधा की लौ की तरह उद्दीप्त हो उठी थीं।

मुझे लगा वांछा की वंचना का समुचित उत्तर इन्हीं आँखों की जोत समेटकर दे सकूँगा।

फिर स्वयं प्रार्थित होने पर छवि ने अन्य कुमारियों की तरह कुंठा का प्रदर्शन नहीं किया। काँपते हाथों से मेरा हाथ थामकर बोली—'मैं धन्य होऊँगी, आप जैसा जीवन-संगी पाकर।'

लज्जा और शील नारी का आभूषण है, पर कुंठा के छिलके में बन्द होकर नहीं, और न पाश्चात्य निरावरणता की धृष्टता से ही।

छवि के आरक्त कपोल, कंपित वाणी और मुक्त आवाहन से उसकी

उच्च शिक्षा और संस्कार का प्रभाव मेरे जीवन पर संपूर्ण रूप से छा गया।

मैंने निश्चय किया, 'वांछा' का प्रेमोन्माद-मात्र उसकी वंचना थी। छवि ही मेरी स्वप्नप्रिया है, और छवि मेरे रोम-रोम में समा गई।

दूसरे दिन कांग्रेस अधिवेशन के दो टिकट बनवाकर, जब उतावली से कार में बैठी छवि की ओर जा रहा था, उस भले आदमी ने मेरा पीछा किया। कुछ भला-सा मद्रासी नाम उसने बताया था—'श्री मानजी श्रीमान जी !' मेरे चकित-सा रुक जाने पर बोला—'आप कुमारी वांछा को जानते हैं ?'

मेरे चौंकने पर सँभलने का अवसर बिना दिए ही वह कार्ड जिसपर 'समर्पिता नारी' का चित्र और ये पंक्तियाँ लिखी थीं, मेरी हथेली में रख दिया—'यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो।'

जाने क्यों मुझे लगा, किसीने अंगार रख दिया हो हथेली पर।

—'अच्छा ! तो अब चित्र भी बनाती हैं कुमारी जी ?' तभी उसने एक बन्द लिफाफ मेरी ओर बढ़ाया—'मेरे मित्र, सभी भाँति समर्थ हो, इस कुमारी की मर्मव्यथा को अपना सहारा दो। तुम्हारे बिना वह प्राण गंवा देगी।'

जाने कौन-सी उत्सुकता उंगलियों पर चढ़ बैठी—और उलट-पुलट-कर पत्र पढ़ते ही मेरे रोष को द्वार मिल गया। मुझे लगा, ये सारे छल-छंद रचे-रचाए हैं। मेरी डिग्री, मेरी संपत्ति और मर्यादा पर ही वांछा की लोलुप दृष्टि है। प्रेम रहता तो कभी डगमगाती ही नहीं। उस व्यक्ति ने फिर कहा—'भाई पुरुषोत्तम !······'

मेरी जिह्वा पर प्रलयंकरी वाणी हुंकार उठी—'पता नहीं, अपने को क्या समझा करती हैं, ये मायाविनी छोकरियाँ, कहिए यह साफगोई अपने भावी पति पर प्रकट करें।'

—'साहब, उसने कहा है, आप सिर्फ उसकी माँग भर दें। बाद में दूसरा ब्याह भी कर लेंगे तो आपत्ति नहीं होगी उसे। वह आपके बच्चों की आया बनकर ही रह लेगी।'

बहुत जोर से हँस उठा था मैं—'आपका कितना शेयर है, इस जाल

थे महाशयजी ? वांछा से कह देना, अभी मुझे आया की भी जरूरत नहीं, जब जरूरत होगी, ढूँढ़ लूँगा।'

फिर वहाँ से छूटकर प्रतीक्षा करती छवि को लेकर मैं सारा दिन व्यस्त रहा। फिर भी जाने कौन-सी अलक्षित रिक्तता मुझे रह-रहकर कुरेद जाती।

कभी-कभी लगता—वांछा रो रही है। निश्चय ही मेरी निर्दयता से वह रोती रही हो। दूसरे ही क्षण लगता—नहीं, नहीं, यह भी समुचित उत्तर नहीं है, उसे और भी कठोर उत्तर देना होगा।

वांछा के ब्याह के ही दिन मैंने अपने लग्न की तिथि धरा ली।

लेकिन अरमानों की तरह सँजोए गए अपने उन उपहारों को जो मैंने 'वांछा' के लिए विदेश के अन्तिम दिनों में घूम-घूमकर जुटाए थे, सुहागरात में जब रूप की रानी छवि को अर्पित करने लगा, प्रतीत हुआ, किसीके गीले होंठ मेरे कानों से सटकर पूछ रहे हों—यही तुम्हारा आश्वासन है पुरुषोत्तम ?

याद है, तभी जाने कहाँ से एक कोयल कूक उठी। एक बार ही सारा स्नेह-संवेग पसीनों में बह उठा— छवि ने इसे लक्षित किया और मेरी आँखों में पूर्ण विश्वास से अपनी दृष्टि डालकर सारी बातें जान गई।

उसने मुझसे पूछा कि मैंने उसी क्षण क्यों नहीं कहा था ? और मुझे हिम्मत करके स्वयं वांछा से मिलना चाहिए था !

फिर छवि ने ही वांछा को पत्र लिखा। एक लम्बी चुप्पी के बाद उसके कुछ पत्र कानपुर और अन्य स्थानों से आये—जिससे लगा अच्छा हुआ वांछा से पिंड छूटा। वह छवि के सामने बहुत ही हल्की प्रतीत हुई।

चिन्मय राव से उन्हीं दिनों भेंट हुई। वह लखनऊ के अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन में निमंत्रित होकर आए थे। मैं भरसक कवि-सम्मेलन और कांग्रेस अधिवेशनों को बिना देखे रहता नहीं। उन्हें देखा तो अपमान के सारे बाण धरे रह गए, जिस अलक्षित व्यक्ति को लक्ष्य कर शून्य में हजारों बार मेरे फौलादी पंजे कस गए थे, उसे अपने प्रगाढ़

आलिंगन में भरकर मुझे लगा, इन प्राणों की धड़कन में ही कहीं वांछा का स्वर है !

वे मेरी उदारता से प्रभावित हुए, मैं उनकी विद्वत्ता और सौभाग्य पर मुग्ध हो उठा।

वांछा सुखी होगी, यह अन्दाज़ जहाँ एक ओर मन को सुख दे रहा था, ईर्ष्या की धुँधुआती लौ भी वहीं लहक उठी।

वांछा जितनी सुखी है उससे हज़ार गुना सुख मेरा अपना है। छवि का ऐश्वर्य वांछा को कैसे दिखलाऊँ ?

तभी छवि ने सहज स्नेहमयी वाणी से चिन्मय को सपत्नीक आने का आमंत्रण दिया।

मुझे लगा मेरे गोपन भी ज्ञेय हैं छवि को।

वांछा को यही सब तो बता देना चाहता था ! मुझे बताना था—जिस कोमल कवि-हृदय का मधुचक्र रचाकर तुम फूल रही हो, वह भी तुम्हें 'वह सब कुछ' नहीं दे सकता, जो मेरी छवि को प्राप्त है। तुम सिर्फ सरस्वती की दीन, दरिद्र और परमुखापेक्षी उपासक हो तो मेरी छवि पर लक्ष्मी और सरस्वती की समान कृपा है।

मुझे वांछा को दिखलाना था कि—आओ, देखो, मेरी बाँहों में भी जीने की वह ताकत है। और सबसे ऊपर है मेरी छवि, जिसे तुम उस बंजारिन की भांति तारों पर नहीं साध सकोगी।

आज मेरी छवि ने भी उसी ईर्ष्या से प्रेरित होकर शृंगार किया है। पर व्यर्थ, मेरे प्राणों के तार सभी अनुभूतियों से शून्य हो उठे हैं, जैसे।

फिर मैंने सहसा सुना—वांछा ने जल मरने की चेष्टा की थी। बच गई, लेकिन सारा अंग झुलसकर फफोलों से भर गया है।

मेरे मर्म पर शंका ने टहोका दिया—हाय, आखिर कौन-सा कष्ट हुआ उसे !

लेकिन दूसरे ही क्षण प्रतिहिंसा ठठाकर हंस उठी--अब तो और भली लगेगी कवयित्री ! किसी कवि-सम्मेलन में ही आँखें तो जुड़ा जाएँ भला।

फिर वांछा के शिशु-जन्म की कथा सुनी। बच्चे का ठीक मुझपर ही

पड़ना, सुनकर काँप उठा था। यह क्या किया उस अंजनहारी ने ? चिन्मय की आँखों में शंका की लौ उस दिन देख चुका था, जब छवि ने सपत्नीक उसे आमंत्रित किया था, अब तो वह उसे नोच ही डालेगा ! क्या मुझे अब भी नहीं भूल पाई है वांछा ? इतनी एकाग्रता की संभावना तो एकनिष्ठ साधना से ही संभव है। और तभी लगा, मैं सोते से जग उठा। उसने लिखा था—अपने बच्चों की आया बनाकर रख लेना, सो आज उसने मुझे ही बाँध रखा।

फिर अपने जख्म को मैंने शोभा की किलकारियों से पूरने का प्रयास किया।

कभी-कभी विचार आता, दूसरे की पत्नी पर सोचने का क्या अधिकार है मेरा ?

फिर हठात् सुना, वांछा का वह शिशु भी नहीं रहा और उसमें उन्माद के चिह्न देखकर चिन्मय उसे लेकर कहीं अन्यत्र चला गया है। फिर कानों ने यह भी सुना—बड़ा कठोर और क्रूर हृदय है चिन्मय। वांछा पर अपनी निर्दयता के आघात करने से भी नहीं चूकता।

मेरी सारी प्रतिहिंसा पर जैसे धारा-संपात अश्रु-वर्षण हुआ ! ये किसके आँसू थे ? मुझे स्वयं अपने-आप से ही लज्जा आने लगी। लगता, उसके इन अपमानों का कारण मैं हूँ।

किसने उसे यह मति दी थी ? लेकिन उसने तो लिखा था—'स्वर्ण-मृग के भ्रम से जिस मारीच के पीछे दौड़ रही थी, उसका परिचय पा चुकी हूँ, उसकी निशाचरी माया से तुम आकर मुझे मुक्त कर लो।'

निश्चय ही बड़े मार्मिक शब्द थे, पर अर्थ तो तब समझ में आया, जब प्रतिध्वनि भी खो चुकी थी। तरह-तरह की बातें सुनने में आतीं—'वांछा' और चिन्मय दोनों के सम्बन्ध में। मैं अपना समाधान यह सोचकर करता, क्यों उसकी चिन्ता करता हूँ।

छवि ने मुझे ऐसे ही द्वन्दों में दिशा-संकेत किया। छवि के दान में आकंठ डूबा हूँ मैं। उसे जितना ही पाता गया अपने बच्चों में, परिवार में, पेशे और संसार में—उतना ही डूबता गया। बीच के व्यस्त वर्षों में तो यह भी याद नहीं रहा, वांछा से कभी कोई परिचय भी था।

हठात् मेरी बदली यहाँ हुई। उस दिन अचानक ही किसी मित्र से सुना'''खादी भण्डार में कोई कवयित्री सिल्क के काउंटर पर आई है।

उसीने झुककर कान में कहा—'बड़ा कष्ट देता है उसका पति, गाहे-ब-गाहे, हाथ-मुंह और आँखों पर नीले-काले निशान देखे जाते हैं। और पड़ोसवाले तो यहाँ तक कहते हैं—उसने उसके गर्भ के बच्चे तक को मार डाला है।'

मित्र की बातें बड़ी देर तक चुभती रहीं। फिर बच्चों के साथ जब पूजा का उत्सव मनाने निकला—जाने किस प्रेरणा से गाड़ी लेकर उसी खादी भंडार के द्वार पर जा पहुँचा, जहाँ उसने बताया था।

सिल्क के काउंटर पर आकर स्वयं अपनी आँखों पर ही विश्वास नहीं हुआ, क्या मैं यही देखने आया था ? बुझी-बुझी आँखें, निस्तेज मुख और चिन्ता-जाल से भरा ललाट, निहायत मामूली-सी धोती में लिपटी चम्पा की बासी माला-सी प्रतीत होती थी वांछा !

उन आँखों की आब ही नहीं, पारखी शक्ति भी लुप्त हो चुकी थी। देखा अँधेरे में टटोलने जैसा वांछा मुझे निमिष-भर देखकर अपने काम में खो गई !

छवि होंठों में हँस उठी। यह मेरी दूसरी हार थी। फिर छिपे-छिपे सारी बातों का पता लगवाकर मैंने जो पासा फेंका—कारगर हो गया। वांछा मुझे अब भी नहीं भूली है। मान-अपमान की ज्वाला तब भी नहीं चुकी थी। जाने-अनजाने ही जो तीर चुभो आया था, उसके सहज-स्वाभाविक हास्य-भरे वाक्यों से लौटकर अपने ही मर्म पर जब कर उठते मुझपर।

तब से मन को हज़ार-हज़ार समझाता हूँ। आधी रात में जब सारी दुनिया सो जाती है, पेड़ के पत्ते तक निस्तब्ध मौन ऊँघा करते हैं, मैं तारों की ओर देखकर सुलगता रहता हूँ। छवि को मेरी इस व्यथा की जानकारी है, लेकिन वह भी मौन हो रही है।

मैंने वांछा के मर्म पर बार-बार पीड़क आघात किए, यही कचोट साला करती है।

चिन्मय ने भी उसे दमित और निष्प्रभ कर डाला है। याद है, जब

लखनऊ में प्रथम बार की भेंट के पश्चात् मैंने चिन्मय की मंडली में प्रवेश किया था, उसके किसी कवि मित्र को यह कहते सुना था—'आपकी पत्नी की प्रतिभा मूर्द्धन्य होकर रहेगी, कविजी ?'

इसपर मैं चिन्मय का उत्तर सुनकर मर्माहत हो उठा था। काँप गया था कि आदमी इतना हिंस्र भी होता है ?···याद है उसने अपनी तलहत्थी से एक विशेष जुगुप्सित मुद्रा बनाकर उत्तर दिया था—'तो मैं यों कर उसके फण नहीं कुचल दूँगा ?' और अपने कथन पर बड़ी ज़ोरों की हँसी आई थी उसे।

मंडली में एक विरक्ति व्याप गई थी, और मैं फिर बिना कुछ कहे-सुने ही उठकर चला आया था।

वांछा को कुचल दिया गया ?···नहीं, इस बुझी राख के ढेर में भी अंगार हैं। वांछा ने जीवन को सही अर्थों में झेला और स्वीकारा है। उसकी तेजस्विता म्लान नहीं पड़ी, उसने निर्यातन और परिस्थितियों से समझौता करना सीखा है। पुरुष भी जहाँ दुम दबाकर भाग खड़े होते हैं, वांछा नतग्रीव ही सही, अटल खड़ी है।

चिन्मय की पराङ्मुखता समस्त पुरुष जाति का कलंक है। ये अत्याचार, अनादर, मात्र वांछा का ही अपमान नहीं, सम्पूर्ण मातृशक्ति का अपमान है।

सोच रहा हूँ, सुलग रहा हूँ, राह नहीं सुलझ पाती। अपनी एकाग्र समाधि में, अपनी त्राटक साधना में डूबकर उसपर विद्रोहिणी शक्ति का आरोपण करता हूँ—'वांछा, स्वयं अपनी राह आप चुन लो ! मेरे संशय-भ्रम में तो तुम और छवि इन दोनों ने ही प्रकाश दिखाया है, आज भी तुम्हीं यह मोह हर लो। वांछा, ओ मेरी आद्याशक्ति !" कहते हैं, योग-क्रियाओं की यह प्रक्रिया अमोघ होती है। वांछा पर भी उन प्रेरक शक्तियों का प्रभाव हुआ, पर उसका अन्त इतना करुण और कठोर होगा, नहीं जानता था।

चिन्मय ने उसपर छुरे से प्रहार किया है। इसके लिए यह आरोप किया है, उसके काउंटर पर उसके प्रेमी आया करते हैं। वांछा पर कुलटा और विश्वासघातिनी होने का कलंक थोपा है उसने। मगर सत्य

केवल इतना ही है, तो नाहक पिस गई वांछा।

मगर वांछा के पड़ोसियों ने कुछ और ही कहा है—उसके अनुसार वांछा को असीम कष्ट दिए हैं, चिन्मय ने। हल्ला-गुल्ला, उपद्रव और अन्याय में पहल वही करता रहा है। और ऐसे-ऐसे अत्याचार करता रहा है उसपर कि सुनकर पाषाण भी रो उठें!

—नन्हा विजय, जो माँ की हत्या का एकमात्र बालिग (?) साक्षी है। आश्चर्य है, बारह साल का लड़का इतने संतुलन और स्पष्टता से घटना का बयान दे सका। कई बार उसे उलट-पुलटकर पूछा गया, मगर एक ही उत्तर है उसका—पापा ने दो सौ रुपये माँगे और माँ के नहीं कहने पर उन्होंने छुरा भोंक दिया।

यह सिद्ध हो चुका है कि चिन्मय का यह पहला प्रयास नहीं है। स्वयं उसके एक मित्र उमेश ने कई आँखोंदेखी घटनाओं का उल्लेख करते हुए कहा है—'चिन्मय पूर्णगर्भा वांछा के पेट में तब तक लात-मुक्कों से प्रहार करता रहा, जब तक कि वह रक्त से लथपथ नहीं हो गई। चोट से चपटे बने बच्चे को दफनानेवाले साक्षी हैं। वह डाक्टर साक्षी है, जिसने दया करके सेम्पुल की दवाएं दे-देकर वांछा की जान बचा ली थी। चिन्मय वांछा को रौंदता रहा है।' मैंने सुना, चिन्मय ने सुहाग-रात में ही वांछा से कहा था ···'मैंने तुम्हारी प्रतिभा को ब्याहा है ?'···

और-और उसने उस प्रतिभा का भी गला घोंट दिया। खुली अदालत में पागलपन का स्वांग भी किया उसने। उसके सारे वाकयात गढ़े-से प्रतीत हो चुके हैं। न्याय उसके पक्ष में नहीं जायेगा। लेकिन क्या चिन्मय की कठोर सजा वांछा सह सकेगी ? सभी लोग एक स्वर से यही कहते हैं, वांछा ने निःशब्द हो, बिना प्रतिकार किये उसके सारे अत्याचारों को झेला है। तो, सम्भव हो वांछा चिन्मय को पागल प्यार करती हो। तभी तो जिन बोझों से चिन्मय भागता रहा है, उसने स्वयं उन्हें ओढ़ लिया है। परिवार का भरण-पोषण, बच्चों की शिक्षा और शराब का व्यय ही नहीं, उसकी पुस्तक के प्रकाशन का भार भी वांछा ने ही वहन किया है।

यह सब क्यों सहती आई है वांछा ? क्या उसकी जीभ में बोली

नहीं है ? परिवार के सभी व्यक्ति, यहाँ तक कि बूढ़े पिता का अनुनय भी उसने नहीं माना है। वांछा कैसी रहस्यमयी है ! इस प्रकार तिल-तिल कर मरनेवाली नारी को मेरा न्याय पसंद आयगा ? और यदि उसके प्रतिकूल फैसला हुआ तो वांछा जी सकेगी ?··· मैं वांछा को किसी भी कीमत पर खोना नहीं चाहता।

हाय, कितना अभागा है चिन्मय ! बिहारी से इसी मुकदमे के दौरान में भेंट हुई, उसने एक नया ही रहस्योद्घाटन किया है—'चिन्मय एक ढेले से ही दो शिकार करना चाहता था। वांछा को ब्याहकर भी श्यामा पर उसकी कुदृष्टि सदैव रही। उसने एकान्त में ऐसी चेष्टाएं भी की हैं।' बिहारी ने ही कहा—'श्यामा ने अभी हाल में इस रहस्य की बात कही है, वरना पहले कहा होता, तो बहुत दिन पहले उसकी दवा हो जाती।'

छिः, आदमी इतना घृणित और क्रूर होता है ? पत्नी को अपमानित कर, छोटे-छोटे बच्चों की रोटी छीनकर जो छैला बना फिरे, वह किस प्रकार पुरुष की संज्ञा धारण करने का अधिकारी माना जाएगा ?

चिन्मय को मुक्त कर देना बड़ा ही अशुभ होगा। नन्हे विजय को जिन हिंसक नजरों से वह देखा करता है, उसका फल बुरा होगा। कानून की धारा कहती है, उसे फाँसी दे दी जाय। हत्या का आयोजन पहले से ही रचा हुआ था। मात्र वांछा पर ही नहीं, विजय पर भी उसकी घातक दृष्टि है।···अस्पताल में बेहोशी की हालत में वांछा के होंठों से कढ़ी आधी पंक्ति ने मेरे इतने बड़े भ्रम को मिटा दिया है। चाहे जैसी भी हो, वांछा आज भी वही है। उसने रुक-रुककर पुकारा था—'पद्मनाभ पुरुषोत्तम···?'

यही कड़ी तो गुरुदेव भी गाया करते हैं !···तो क्या वांछा आज भी वही है ?

चिन्मय का यह आरोप भी इसे ही पुष्ट करता है, वांछा के गर्भ से ऐसे शिशुओं के जन्म हो चुके हैं, जिनकी आकृति उसके प्रेमी से मिलती-जुलती थी !

इसपर वांछा के वकील ने पूछा—'और वे ही दोनों मर गए, कैसे ?'

'उन्हें उसका ही पाप खा गया ! मेरा एक भी बच्चा नहीं है !'

कानून ने इस आरोप की ही जो धज्जियाँ उड़ाईं, इच्छा हुई थी, कान मूंदकर भाग जाऊँ।

चिन्मय के कई पाप इसी तरह प्रकट हो गये। उसके बचाव का कहीं कोई मार्ग नहीं है। पर कल तो वांछा की भी पेशी होगी। आमने-सामने वे खड़े होंगे। फिर जब इन आरोपों को मेरे सामने चिन्मय दुहरायेगा, वांछा कैसे सह पायेगी? मैं कैसे सह पाऊँगा भगवान, मेरी इतनी कठोर परीक्षा ले रहे हो ?

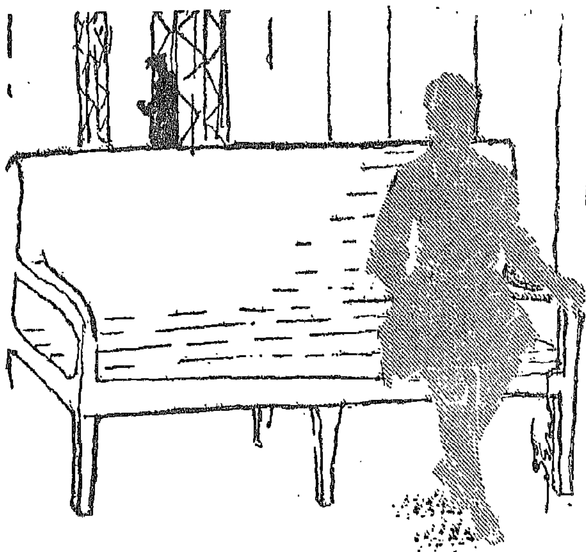
वांछा, मेरी आद्याशक्ति ! तुम्हारा पुरुषोत्तम आज डूब रहा है, उबार लो सिद्धिदात्री !

आह, फैसला लिखना ही है ! जगज्जननी, उस पापी के पाप का प्रतिकार-स्वरूप न्याय का यह निष्पक्ष दंड भी वांछा झेल सके, उसे यही बल दो !

और, कहीं एकाएक मुझे ही देखकर वह चीख उठे ?···भगवान उसे असीम धीरज देना !·· किस मुंह से निकला था—'अच्छा यहाँ एकान्त में भी कान उमेठने से भागती हो, आने दो लौटकर, भरी अदालत में उट्ठक-बैठक कराऊँगा तुमसे ! तभी पता चलेगा, 'फूल' और 'ऐस' किसे कहते हैं ?'

वांछा, मेरी अन्तरवासिनी, यह क्या हो गया ? कल छवि भी दर्शकों में उपस्थित रहेगी। रहे, उससे मुझे बल ही प्राप्त होगा। लेकिन शोभा जिसने छायावाद पर 'थीसिस' लिखते समय वांछा की कविताओं की गूढ़ विवेचना की है, अपनी प्रिय कवयित्री को निकट से देखने के लिए बहुत उत्सुक है। वहाँ सभी होंगे, कितनों से आँखें चुराऊँगा ? न्याय तो करना ही पड़ेगा ! पर हाय अपनी ही चाबुक से अपने मर्म को पीटना पड़ेगा मुझे ? छवि ? कहाँ हो ? एक गिलास ठंडा पानी पिला दो मुझे ! पंखा तेज कर दो। मेरे ललाट पर अपनी शीतल हथेलियाँ रखो, मेरा मन डूबा जा रहा है !

—'छवि, ओ छवि !'



चौथी परत | श्रीकान्त तृतीय श्रेणी का प्रतीक्षालय

कहानी खत्म हो गई। अपने कुछ स्वार्थों के वशीभूत मनुष्य किस प्रकार दूसरों के मासूम अरमानों का खून कर देता है ! कैसे पारिवारिक कलह और विद्वेष की प्रतिशोधक ज्वाला यह भी नहीं देखा करती कि बदला लेने का अपराध में कितना हाथ है।

परंपरागत झूठी मर्यादा और दिखावटी पाखंडों की आड़ में किस प्रकार खिलती कलियों को मसल दिया जाता है !

प्रेम की एक छोटी-सी चिनगारी किस प्रकार फैलकर जीवन-पर्यन्त ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर तक ज्वलित हुआ करती है। इन सबों की कहानी खत्म हो गई।

स्वार्थ-यज्ञ की शेष बलि पूरी हो गई। पारिवारिक ईर्ष्या की हिंसक जिह्वा आत्मीयता का उष्ण रक्त पीकर शान्त हो चुकी। अभिजात मर्यादा की आड़ में पाखंडों का नाच समाप्त हो चुका और युग-स्वप्नों की वियोगिनी प्रिया की चिताग्नि प्रिय के अश्रु-अर्घ्य से सिंचकर शमित हो गई।

वांछा, तू तृप्त हो गई। तेरी शेष साधनाओं की सिद्धि हो गई। परिणीता पत्नी भी जिस सौभाग्य से वंचित रह जाया करती है तूने प्राप्त कर लिया। कहानी खत्म हो गई!

लेकिन मेरी जलन-ज्वालाओं की कथा तो अब आरंभ हुई है। इतने हाहाकारों, पाप, शाप और अनुतापों से घिरा मैं, लगता है, जेठ की धरती और आकाश के बीच जीवित जल रहा हूं।

वांछा, किस मुंह से कहूं कि मुझे क्षमा कर दे बहन! नहीं, नहीं, तुझे बहन कहकर पुकार सकूं, इस लायक भी नहीं हूं मैं। जिसने बहन के सुहाने सपनों को, अधूरे अरमानों को अपने हाथों ही होम कर डाला, उसे भाई कहलाने का अधिकार ही क्या है? किसी लहलहाते वृक्ष की जड़ में घुसकर उसे आमूल सुखा डालनेवाले कीड़े की बात शायद बहुतों को मालूम नहीं हो। दुनियावालो, आओ देखो, मैं वही सत्यानाशी कीट हूँ! समाज के न्यायकर्ताओ, दोषी मैं हूँ, दंडनीय मैं हूं। मुझे जो भी दंड दिया जाए थोड़ा है। सड़क के बीचोबीच मुझे आधा गाड़ डालो और कुत्तों से नुचवा डालो। मुझपर थूको, आते-जाते जूतों से पीटो, परन्तु इन दाहक ज्वालाओं के नागपाश में मुझे बाँधो मत।

आह, क्या सोचकर घर से निकला था, क्या हो गया! कहाँ उत्तरा की शुभ परिणय-वेला में, अपनी रूठी बहन को मनाकर—उससे अपने पूर्व पापों की क्षमायाचना कर—अपने अरमानों की मूर्ति उत्तरा को आशीर्वाद देने का निमंत्रण देने के लिए आया था, कहाँ ये अभिशापों के अंगार, अनुतापों के दंश दामन में समेटे जा रहा हूँ!

सन्तान के प्रति पिता की ममता, खासकर पहली सन्तान यदि कन्या हुई तो पिता के हृदय का दुर्निवार मोह, प्यार-भरा दायित्व, अनुशासनपूर्ण महत्त्वाकांक्षाओं का मूल्य मुझसे नियति ने बड़े कठोर हाथों

से वसूला है।

आज ही यह दंशन जान सका कि किसी पिता के अरमानों की बगिया उजाड़कर क्या हासिल होता है। मैंने किसी पिता की आशा-लतिका उखाड़ी है और वह पिता भी कैसा, जो एक दिन स्वयं मेरा आश्रयदाता रहा है।

कहते हैं, दूध पिलाने से भी सँपोले का विष दूर नहीं होता। बनवारी काका ने छुटपन से ही दूध पिलाकर पाला, लेकिन मातृगर्भ से ही घुलने-वाला जहर कैसे दूर हो पाता? विमल बिना पढ़े-लिखे ही कामरूप भाग गया था। आवारा, लंठ और जाहिल कहकर उसे क्षमा भी किया जा सकता है। मगर मैंने तो बनवारी चाचा की कृपा से ही इंटर तक की शिक्षा पाई और सिखाए साँप की तरह अपने उपकारी के जिस मर्मस्थल पर अपने विषदंत गड़ाए, उसका शामक प्रतिषेध कहीं नहीं मिला। आज उसी दंश से अपना रोम-रोम झुलसा जा रहा है। कहीं इसे बुझानेवाले बादल नहीं। कहीं इससे त्राण नहीं।

उत्तरा का नाम लेते ही वांछा की कुमारी मूर्ति आकर खड़ी हो जाती। लगता है, वांछा की धू-धू जलती चिता में उत्तरा का ही शव जल रहा हो, जिसे जीवित ही जल जाने की विवशता इन्हीं क्रूर हाथों से मैंने दी है।

सुनता आया हूँ, मेरे पिताजी के किसी आवश्यक मुकदमे को अपने हाथों लेने में बनवारी चाचा ने इन्कार कर दिया था। और, पिताजी ने समझाने-बुझाने के बावजूद उसे दायर किया, फिर अपना ही अपराध साबित होने पर छः साल की सजा भी भुगती। बनवारी चाचा ने उनकी न कोई सिफारिश की न जमानत ही ली, बल्कि माँ के साथ हम भाई-बहनों को अपने घर ले आए। भरण-पोषण किया, पढ़ाया-लिखाया, नौकरी दिलवाई और सरला का ब्याह अपने जान-पहचान के एक गरीब—गरीब क्या दरिद्र ही, पर स्वस्थ सुन्दर और सच्चरित्र लड़के से कर दिया और इसी सद्भावना की कीमत हमने इस तरह दी।

जानता हूँ, सरला का विवाह ही इस वैमनस्य का प्रधान कारण नहीं था।

पिताजी जेल से बहुत ही बीमार होकर लौटे। उनकी आंत का घाव बहुत बढ़ गया था और दो वर्ष बीमारी भुगतकर जब महाप्रयाण करने लगे हम सबों से प्रतिज्ञा ले गए कि 'चाहे जिस तरह भी इस गरीबी से उद्धार पायेंगे और बनवारी चाचा का बदला वांछा तक का जीवन बर्बाद करके लेंगे।'

पन्द्रह-सोलह वर्ष की सरला के लिए बनवारी चाचा के दूर के रिश्ते के विधुर साले का पैगाम माँ और पिताजी दोनों ने कबूल लिया था। देर केवल बनवारी चाचा की स्वीकृति की थी। आज भी शाम के अँधेरे में पिताजी और चाचा के बीच हुई झड़प शब्दशः याद है !

—'बैजनाथ, कुछ भगवान से भी भय खाओ। सरला तुम्हारी बेटी है, इससे इतना अधिकार नहीं प्राप्त कर लिया कि अपने थोड़े-से स्वार्थ के लिए उस मासूम-सी बच्ची का गला घोंट दो।'

'भैया !' पिताजी की आवाज़ हिचकियों में डूबी थी—'सरला को सुखी देखना हमारा अभीष्ट है। दरिद्रता से बढ़कर कोई दूसरा दुख नहीं है, यह मैं जानता हूँ। अवध बाबू चौवन के हों या छप्पन के, लड़की को फूल की तरह हाथों पर उठा लेंगे यही मैं जानता हूँ। आप ना मत कीजिए।'

—'बैजनाथ !' चाचा गुस्से में बिफर रहे थे—'यह कहो न कि सरला से अधिक तुम्हें अपने सुखों और मोह का ख्याल है। अवध ने तुम्हें बम्बई ले जाकर इलाज कराने का आश्वासन दिया है, मगर यह क्यों भूलते हो, सरला की ही उम्र का उसका बेटा है, जो नाना के संरक्षण में रहता है और कानून के द्वारा सारे धन का हकदार भी वही है। उनसे कहो, अपने लड़के से ही सरला का ब्याह करें, मैं प्रसन्न होऊँगा।'

—'यह कैसे हो सकता है भैया, लड़का नाबालिग है।'

—'क्यों नहीं हो सकता ? नाबालिग लड़की से अवध स्वयं शादी कर सकता है, तो दो नाबालिगों का ब्याह क्यों नहीं हो सकता ?'

—'भैया, यह तो बौने का चाँद छूना हुआ ?'

—'और यह ऊँचे पहाड़ से बेटी को खौलते समुद्र में फेंकना नहीं हुआ ? मैं स्वयं बेटी का बाप हूँ बैजनाथ, मुझसे यह नहीं होगा। सरला

पर मेरा भी हक़ है।'

बनवारी चाचा उठकर चले गए। माँ और पिताजी ने यह आक्षेप लगाया कि वे अपनी बराबरी में हम गरीबों को देखना सह नहीं सकते। अन्त में सरला का ब्याह उन्हींके बताए एक दीन पर दयालु, स्वस्थ, सुन्दर और मेधावी युवक से हुआ।

सरला ने आरम्भिक जीवन में बड़े ही कष्ट झेले। माँ, पिताजी और हम सब भी मर्माहत हो उठते। पहले तो यह पहेली समझ में नहीं आई थी कि जिस विधुर से माँ-बाप, अपनी कन्या को ब्याह करना चाहते हों, बनवारी चाचा ने थोथा आदर्श क्यों भिड़ाया ? आज यह मर्म समझ सका हूँ !

पिताजी स्वयं यह सब झेल नहीं सके। रोग-जर्जर तन, टूटा हुआ मन कब तक साथ चलता ? स्वयं तो चले गए, मुझे संधान बनाकर मेरे मन में विष-वाणी के बीज बोते गए।

सुनता हूँ, इस विनाश-लीला में विमल का भी बड़ा हाथ है, मगर वह तो आरम्भ से ही ऐसा नीच है। तू तो सभ्य, शिक्षित और सुशील कहा जाता था कान्त, तूने अपने उपकारी के साथ यह कैसा बदला लिया ? तुमने अपने पाप के प्रायश्चित्त में एक मासूम कलिका की बलि चढ़ा दी ? तुझे इसका क्या हक था कान्त ?

मां-बाप के उल्टे-सीधे भ्रामक स्वप्नों की पूर्ति के लिए गलत कदम मैंने भी उठाए।···कंपनी के तीन हज़ार रुपये जब मुझपर चढ़े, तो मैंने स्वयं ही इसे क्यों नहीं झेला ? आज उसी पश्चाताप की पंचाग्नि मुझे बुरी तरह जला रही है। आज उन शापों को प्रसन्नतापूर्वक ओढ़ लो कान्त, भागो मत। बिना इसके प्रायश्चित पूरा नहीं होगा।

मगर उत्तरा का क्या दोष है ? सुबह के ताज़े खिले फ़ूल की मासूमियत उसके मुंह पर छाई रहती है। उसमें तो इस पाप की रंच-मात्र छाया नहीं। क्या पिता के पाप की छाया संतान को ओढ़नी ही होगी !

हा: ! हा: ! कैसे बचेगी ? अब रोते हो ? बताओ तो, क्या वांछा ही ईर्ष्या की उस मलिन छाया का ग्रास बनने योग्य थी ? वह भी बड़ी प्यारी लड़की थी।

बनवारी चाचा ने अपने बूढ़े, विधुर, व्यसनी और विलासी धनिक साले से सरला के ब्याह का विरोध किया, क्या यही उनका अपराध हुआ ?

बेटी को धन कुबेर के हाथों बेचकर माँ बाप की अन्तिम धन-लिप्सा पूरी नहीं हुई, पर आज सरला की भरी-पूरी गृहस्थी में जो सुख और आनन्द की किलकारियाँ हैं, उसका पुण्य किसे लगा ? माँ और बाबूजी ने उसके चिथड़े कपड़े ही देखे, उसका भरा-पूरा मन नहीं देखा। बैल की तरह उसका खटना ही लक्षित किया, पर युवक और विवेकी पति के प्रेम पर एकछत्र साम्राज्य करनेवाली सरला के मन की उमंगें नहीं जानीं। पहली बार ही जब उसे विदा कराने गया, पूछा था :

—'यहाँ मन लगता है, सरला ?'

—'क्यों भैया ?' लाज से उसके कान तक लाल हो उठे।

—'माँ को तुम्हारे लिए बड़ा दुख है।'

—'उस रँडुवे की सेठानी बनकर जब अन्दर ही अन्दर घुटा करती, वह देखकर सुख होता भैया ?'

—'शेखर तुम्हें प्यार करते हैं सरला ?'

'धत्, तुम भी क्या-क्या पूछते हो भैया !'

मगर तब भी क्या तुम्हारी आँखें फूट गई थीं—कान्त ? दरिद्र घर की बेटी ने ज़रूरत पड़ने पर कपड़े धोए, बर्तन माँजे, कंडे पाथे तो अपने घर के भीतर ही। पांच साल बनवारी चाचा के घर में रह जाने से ही उसके संस्कारों में क्या अन्तर आ गया ? मगर उस फूल-सी, लाडों पली वांछा ने कौन-से दुख नहीं सहे ? उसे तो घर से बाहर निकलकर नौकरी भी करनी पड़ी। फिर भी सुख और चैन के लाले रहे।

कई वर्ष पहले बनवारी चाचा के यहाँ ही उसके दुःखों से द्रवित होकर चाची के कहने पर प्रसिद्ध ज्योतिषी को बुलाकर ले गया था, वांछा ने कितने व्यथित दर्प से कहा था :

—'कान्त भैया, ये हाथ तुम्हारी आड़ी-तिरछी रेखाओं की कैद नहीं, उनकी सारी परिभाषाएँ झुठला चूकी हूँ। मैंने इन्हीं हाथों

कविताएँ लिखीं, चित्र और मूर्तियाँ बनाईं, सिलाई-बुनाई, घर-गृहस्थी सँभाली और लकड़ियाँ चीरने से लेकर आगत भविष्य का संचालन भी कर रही हूँ। अपने हाथ देखो, सूँघो और समझो, खून के कैसे दाग और कैसी गंध भरी है उनमें !'

उसी दिन जान पाया, किसके साथ मैंने छलबाजी की है ! वांछा के अन्दर ही अन्दर सुलगनेवाले रोष से मेरा कहीं निस्तार नहीं है !

किसी दिन अपने डूबते हुए क्षणों में वांछा को उस गढ़े में धकेलकर स्वयं ऊपर आया था, तूने समझा था—उबर गया। पर सचमुच उसी क्षण तू ऐसा डूबा कि कहीं से नहीं उबर सकता कान्त ! ऐसा डूबा कि समूची भँवर तुझे लील गई।

अपनी आँखों चिन्मय के सारे दुर्व्यवसन मैंने देखे थे, फिर क्या हक था मुझे कि दूसरे की बेटी को इस प्रकार बधिक के जाल में फँसाकर जीवन-भर तड़पाया ? अभी भी याद है—कभी-कभी सूनापन देखकर वांछा मेरे पीछे आकर खड़ी निःशब्द रोया करती :

'कान्त भैया, मेरी आत्मा कहती है, मैं वहां कभी सुखी नहीं होऊँगी।'

—'तुम्हारी आत्मा पर अभी पुरुषोत्तम का भूत सवार है वांछा।' मैं उसकी पीड़ा को क्रूर परिहास बना देता। आज भी मन काँप उठता है, जब 'मंगल भवन' होटल के दृश्य याद आते हैं। कंपनी के तीन हज़ार रुपये मेरे ऊपर आते थे। चालीस रुपयों की क्लर्की और दो सौ रुपये मासिक खर्च का बिल। यात्रा के नाम पर गुलछर्रे उड़ाना और काम नाम को भी नहीं ! उस होटल में सभी धनवान ही रहा करते थे। कपिल पत्रकार होने की हैसियत से दुमंजिले के एक साधारण-से कमरे में रहता और मैं कपिल के साथ ही टिका हुआ था। चिन्मय से वहीं, उसके खर्चीले स्वभाव, मुक्त हँसी और ऊर्जस्वित कवि के नाते परिचय हुआ। मैं ऊपर से जितना शान्त और गंभीर होने का प्रयास करता, मन में आशंकाओं के तूमार उससे दुगुने दुंद बाँधते। और वह दुपहरी, जब बॉस मेरे कमरे से लाल-पीले होकर निकले, गंभीर मेघ-गर्जना से उनके स्वर में झंझा के तिनके की तरह मैं काँप रहा था।

बॉस कह रहे थे—'सिर्फ चालीस रुपये का क्लर्क दो सौ रुपया प्रति माह खर्च करने का बिल पेश करे और काम के नाम पर सारे अंक शून्य, तो किसीको असलियत समझने में धोखा नहीं होगा। अभी जहाँ तुम रह रहे हो, अति साधारण कमरे का चालीस रुपया सिर्फ किराया है। मैं चाहूं तो अभी तुम्हारे हाथों में हथकड़ियाँ डलवा सकता हूँ। मगर, पन्द्रह दिनों का समय देता हूँ, चाहे जिस प्रकार भी रुपये जमा कर दो।'

मुझे दिन में ही तारे दिखाई पड़ रहे थे। लगता था, पाँव के नीचे कोई आधार नहीं है। तभी तिमंज़िले की छत से चिन्मय की पुकार गूँजी—'चन्दर, ओ चन्दर !'

और लगा बॉस के मुँह पर की सभी कठोर रेखाएँ क्षण-भर में ही ढीली होकर हँसी में बदल गईं—'अरे चिन्मय, आज कॉलेज नहीं गए ?'

—'आओ भी, आज कॉलेज जाने का मूड नहीं था।' और चिन्मय नीचे सीढ़ियों तक उतरकर बॉस को दृढ़ आलिंगन में बाँधे बोला—'ज़रा बायरन का अध्ययन कर रहा था।' ठहाके की गूंज के साथ वे अदृश्य हो गए और मैं अकेले कमरे में बैठा-बैठा अपनी किस्मत को रोता रहा।

घंटे-भर बाद जब वे दोनों एक शोख और धृष्ट तरुणी के साथ नीचे उतरे तो मुझे याद आया, आज चिन्मय के कमरे में सुबह ही इसे जाते देखा था।

कपिल और अन्य व्यक्तियों से ज़ाहिर हो चुका था, चिन्मय अपने जागीरदार पिता का सर्वगुणसंपन्न पुत्र है। लेकिन मेरे ज्ञानतंतु केन्द्रित होकर एक ही प्रश्न का समाधान कर रहे थे—चिन्मय और बॉस की मित्रता का लाभ किस तरह उठाया जाए ?

एकाध बार उन लोगों की गोष्ठी में कपिल के साथ ही शरीक होने का अवसर मिला था, उसीमें नवोदित तारिका के रूप में वांछा का नाम सुनकर मन ही मन गर्वित भी हुआ था। लेकिन उस दिन मेरे मन में मकड़ी का जो जाला फैल रहा था, इन सब पाखंडों से निरपेक्ष, दूर बैठी मासूम तितली के पर कतर डालने की युक्ति और तथ्यों का लासा तैयार कर रहा था मैं।

विचारों के ऊहापोह में जाने कब साँझ हुई और कपिल ने आकर

कब कमरे की बत्ती जलाई, जान नहीं सका। लेकिन पता नहीं कैसे उसे बॉस का आना मालूम हो चुका था। मेरे कंधे पर धीरे से हाथ रखा था कपिल ने—'कांतू !' यह कपिल का प्रिय संबोधन था।

—'कांतू ! चन्दर बाबू दिल के बुरे आदमी नहीं हैं, लेकिन जहाँ तक कंपनी की बात है, दूसरी स्थिति है। कहो तो बातें करूँ। उनका कहना है—कंपनी के रुपये तीन वर्ष तक लगन से काम करके चुका दो और शाम-सुबह दो-दो घंटे उनके घर के बच्चों की ट्यूशन करने से वे तीस दे देंगे। इस प्रकार तुम्हें दस रुपये की ही कमी होगी। रही बात कुछ अतिरिक्त श्रम की, वह तो अपनी खोई साख और सबक के लिए आवश्यक है, भाई। साल-भर की ही विश्वासपात्रता से वे स्वयं बाकी रुपयों की छूट की सिफारिश करेंगे और तुम्हें तरक्की भी देंगे।'

'कपिल।' मेरी आंखें छलछला आईं।

—'कांतू, जो समस्या आई है, उसे सुलझाना ही है। सौदा बुरा नहीं है।'

—'मगर कितनी हेठी होगी ?'

—'फिर सिवा इसके उपाय क्या है ?'

—'उपाय है कपिल। पर तुम्हारे सहयोग की जरूरत है। देखो, चौंको मत। चन्द्रनाथ और चिन्मय की मित्रता से लाभ उठाया जाए तो समस्या पलक मारते ही निबट सकती है।'

मैं जानता था, चिन्मय मेधावी कवि और कपिल क्रान्तिकारी पत्र 'कारवाँ' का सम्पादक था। चिन्मय की ओजस्वी कविता मुखपृष्ठ पर छापकर कपिल पत्र की जब्ती के साथ ही स्वयं छः मास तक अंग्रेज सरकार का मेहमान रह चुका था। अब वह चिन्मय के मित्र के पत्र 'रश्मि' का संपादक था। चिन्मय कपिल का आंतरिक सम्मान करता था।

घर का सम्पन्न, आर्थिक चिन्ता से मुक्त, मिलनसार, झक्की और रागरंग के व्यसनी इस तरुण कवि की मित्रता प्राप्त करने के लिए लोग प्रयास करते थे और यह मूर्ख कपिल इस मामले में भी गांधीजी की अपरिग्रह नीति का पालन करता।

—'भला मैं क्या कर सकता हूं, कांतू ?' वह घबराया।

—'किसी प्रकार बॉस बिल पर हस्ताक्षर कर दे और यह काम सिवा चिन्मय के किसीके बस का नहीं। तुम चाहो तो चिन्मय की राग-रंग की मंडली तक मुझे पहुंचा दो, बस बाकी मैं स्वयं संभाल लूंगा।'

'कांतू, वह बहुत बड़े घर का बहुत बिगड़ा हुआ लड़का है। एक तरफ चित्र का पहलू जितना आकर्षक और महान है दूसरी ओर वह उतना ही अंधकारमय है। मेरे पत्र में अपनी कविता छपने के पूर्व सीधे मुँह बात तक नहीं करता था। आज भी देखते हो, मैं जान-बूझकर कतराता हूँ। तुम भी जब उसका सही-सही परिचय पाओगे तो देखोगे वह कितना जालसाज़, झूठा और पतित हैं। सफेदपोशों की मित्रता निभाने के लिए जिन चीज़ों की जरूरत है, वे हम लोगों के वश की नहीं। और, उन सफेद कपड़ों के नीचे रक्त की जो धार रिसती रहती है, जितनी खरोंचें सहनी पड़ती हैं, उसे क्या देकर चुकाओगे कान्त ? चन्द्रनाथ ज़िम्मेदार व्यक्ति है, इस पहलू को क्या रुख दे, कौन ठिकाना है ?'

—'मगर प्रयास करने में क्या हानि है, कपिल ?'

तब बड़ी देर तक उसी कुर्सी पर कपिल धँसा सिगरेट के धुएँ के छल्ले बनाता रहा। फिर अन्यमनस्क भाव से उठा—'अच्छा, तो चलो, तुम भी आज़मा लो। फिर अपनी रिक्तता को कोसते हुए जब पछाड़ खाते फिरोगे, मुझे दोष मत देना।'

उस दिन क्या मालूम था, इसका अन्त यही होगा ? अपनी गांठ में तुम्हारी नवोदित रश्मियाँ बँधी थीं, वांछा। चिन्मय के कमरे में ही गोष्ठी जमी थी। चाय-नाश्ते के बाद जब सोडा और शराब की बोतलें भी बेयरा ले आया, कपिल धीरे से उठकर चलता बना। मैं बगुले की तरह ध्यान लगाए चिन्मय को देख-परख रहा था।

जब कानपुर के एक दूसरे साहित्यिक को उसने अपना आवास 'वाइस चांसलर बंगला' बताया तो मैं दंग रह गया।

सबके सामने इतना सफेद झूठ बोल देना उसीका हियाव था। कपिल से ही मालूम हो चुका था, उसके रिश्ते के चाचा यहाँ वाइस चांसलर हैं, जिनके यहां से अपनी अनियमितता और मौजीपन के चलते

निष्कासित होकर ही वह 'मंगल भवन' के 'ए' क्लास कमरों में बाप का पैसा 'होम' कर रहा है।

कानपुरी सज्जन चकराए थे, क्योंकि कमरे की प्रत्येक चीज चिन्मय का इजहार कर रही थी। जिरह होने के पूर्व ही मैंने स्थिति से लाभ उठाया और तपाक से कहा—'कुछ याद है कविजी, चाचाजी ने छः बजे आने की कितनी सख्त ताकीद की थी?'

चिन्मय आश्वस्ति की सांस लेकर तत्काल ही क्षमा माँगता हुआ उठा। मेरा हाथ पकड़कर जब वह बाहर लॉन में आया, हमारे बीच संधि हो चुकी थी।

चिन्मय ने बॉस से हस्ताक्षर कराने की शर्त स्वीकार की थी, मगर वांछा से ब्याह कराने की शर्त पर मेरी छाती जोर-जोर से धड़क रही थी।

कहीं बनवारी चाचा के क्रोध में पड़कर लेने के देने न पड़े। वांछा किसी दूसरे से प्रेम करती है, जिसे चाचा पसंद नहीं करते, इसकी जानकारी मुझे थी, इसी आधार पर मैं अंधेरे में तीर मारता आ रहा था। इसका भी ज्ञान हम दोनों को ही था कि मैत्री की आड़ में व्यापारिक समझौता हो रहा है और अपने-अपने दांव में प्रथम जीतने का प्रयास दोनों करते रहते।

उसका अध्ययन कर मैंने पाया—चिन्मय किसी गहरे मानसिक रोग से ग्रसित महती हीनभावना को छिपाने के प्रयास में ऐसी-ऐसी हरकतें कर बैठता है, जो उसके बड़प्पन की जगह हल्केपन की सूचक होती हैं। लेकिन इन्हें परखने के लिए बड़ी सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता थी।

मैंने यह भी महसूस किया—जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए वह बुरी तरह लालायित रहता, उसे पाकर या उसके प्रतीक्षा-काल में ही उससे इतना विरक्त होता, उसकी ऐसी अवहेलना करने लगता कि चकित रह जाना पड़ता।

कहीं वांछा के साथ भी यही बात न घटी हो!

मेरे प्राणों में ममता रो उठती, लेकिन पीछे हटना भी संभव नहीं था।

एक ओर हथकड़ियों का भय, नौकरी की सुरक्षा और अपनी लोभ-

लिप्सा, बड़ा बनने की प्यास, यह छलछंद। दूसरी ओर वांछा का सरल-निष्कपट चेहरा मुझे भयंकर द्वन्द्व में डाले रहता। मैं इनपर विजय पाने के लिए पिता की मृत्युशय्या पर किए प्रण को दुहराता। बनवारी चाचा के किए गए उपकारों में छोटे-छोटे दोष ढूँढ़ा करता और फिर मुझपर एक पागलपन सवार हो जाता।

फिर चिन्मय के बुझते उत्साह में वांछा की मनोवांछा उद्दीप्त करता। एक तरफ वांछा से कतराता दूसरी ओर उसके नाम पर चिन्मय की अलमारियों की सरस, सुन्दर और बहुमूल्य पुस्तकें निकालकर अपने ट्रंकों में भरता जाता। अब चन्दर बाबू प्रकटतः मुझसे मित्र का सा व्यवहार करते, लेकिन इस मित्रता की आड़ में मैं उनके एक छोटे से छोटे इशारे का गुलाम हो गया।

अपने कुकृत्यों पर ध्यान आता है तो आज भी सिहर उठता हूँ—बाजार से कढ़े हुए ढेर सारे रुमाल और तकिया-गिलाफ खरीदकर चिन्मय की अनुपस्थिति में ही उसके कमरे में लगा दिये थे। बाहर से लौटकर आते ही चिन्मय चकित हो गया। मुझसे पूछा था—'यह कौन कर गया कान्त जी ? किसने ऐसी कृपा की है ?'

—'जिसे भविष्य अपने हाथों सँवारना है, उसीकी यह स्नेह भेंट भी है, कविजी !'

मेरे-कपिल के कमरे में भी ठीक ऐसे ही नमूने होते, चिन्मय देखता, जाने क्या-क्या सोचता। कभी-कभी व्यंग्य के एकाध बाण बरस भी जाते। कहीं इन्हीं बातों ने तो उसके संदेह की गांठें नहीं दुहराईं ? उसकी आँखों में शंका के बिन्दु का व्यास, फैलकर जब बाहर तक स्थान घेर लेता, मैं सिहर उठता !

कभी-कभी बनवारी चाचा के बुढ़ापे की बात और उनकी एकमात्र संतान के साथ की गई छलबाजी से अपना ही मन मसोस उठता।

—'सुना है, वांछा का ब्याह तुम एक आवारे कवि से करने जा रहे हो ?' सरला ने मुझसे छूटते ही पूछा था।

—'यह किससे सुना ?'

—'ये ही कहते थे।'

—'शेखर बेवकूफ हैं सरला।...'

—'चुप रहो भैया, वे शिक्षा और संस्कार दोनों में तुमसे श्रेष्ठ हैं, तुम्हारी तरह पैसा नहीं कमा पाते, इसीलिए बेवकूफ हैं। मगर इतना याद रखो, भगवान के सामने तुम बहुत बड़ा पाप करने जा रहे हो।'

—'सरला, क्या भूल गई, हमारे मां-बाप ने कितने कष्ट उठाए ? बनवारी चाचा के यहाँ जब हम लोग रहते थे, किस तरह माँ और तू खटती थीं ? चाचा किस तरह हमारे साथ दिन-रात की बकझक लगाए रहते ...'

—'भैया !' सरला ने चीखकर कानों में उँगलियाँ डाल लीं।

—'बनवारी चाचा ने दूर का रिश्ता होने पर भी जितना किया, कोई अपने सगे भाई के साथ भी नहीं करता है।'

—'मगर तुम्हें मालूम है सरला, वांछा स्वयं भी कितनी शोख, जिद्दी लड़की है ? बनवारी चाचा ने स्वयं मुझे कहा है—चाहे जैसा भी लड़का हो, वांछा का ब्याह कर ही देना है। वांछा के हठ से उनकी कितनी हेठी हुई है, जानती भी है ?'

—'क्या भैया ?'

—'वांछा ने पुरुषोत्तम के प्यार में इस तरह घुल-घुलकर अपने को बना डाला है कि बनवारी चाचा के मुंह से भी कई बार यह सुन चुका हूं—वह तो पुराना शिकारी ठहरा, देखना कहीं विलायत से मेम ले आया तो वांछा यों ही मारी जाएगी !'

—'तो तुमने चाचा से यह क्यों नहीं कहा, कोई अच्छा लड़का स्वयं ही ढूंढ़ें, वांछा को मैं समझाऊंगी।'

—'सरला, तू वांछा को समझा पाएगी ? जो अपने मां-बाप को भी विवश कर सकती है, उसे कोई बलवान ही वश में कर सकता है।'

—'तो पुरुषोत्तम ही कौन निर्बल है ?' सरला हंसी।

—'ओह, तू नहीं जानती सरला, बनवारी चाचा स्वयं कुंडली का अच्छा ज्ञान रखते हैं, वांछा और पुरुषोत्तम की कुंडली के योग ऐसे हैं कि वांछा को 'बेहुला-रांड' होना ही पड़ेगा। फिर वैसा दुःख जानबूझकर कौन खरीदेगा ?'

—'तब तो वांछा को स्वयं ही त्याग करना चाहिए। उसे समझाते क्यों नहीं ?'

मैं सूखी हंसी हंसकर बोला—'और वांछा कहती है—त्रैलोक्य की कोई शक्ति मुझे विधवा नहीं बना सकती !'

—'जब ऐसा अखंड विश्वास है तो वह अखंड सुहागिन रहेगी ही भैया, तुम चाचा को ही समझाओ।'

लेकिन मैं जानता था, चाचा को मैं क्या समझाऊँगा। मैंने वांछा और चिन्मय से सम्बन्धित कई प्रेम-कथाएँ गढ़ीं और उन्हें फैलाया। ऐसी बातों के बीज चाहे ऊसर में भी बिखेर दिए जाएँ, बड़ी जल्दी पनपते और फलते-फूलते हैं !

स्वयं चिन्मय भी अपने सम्बन्ध में ऐसी बातें सुनता तो चकित रह जाता। मेरे बक्स में कविता की नई पुस्तकें ठसी-सी थीं। बक्स स्वभावतः ही भारी हो गया था. कौरव, विपिन और ओझा सभी हमारे साथ ही पूजा की छुट्टियों में घर जा रहे थे, सभीने बक्स की बोझिलता पर आश्चर्य किया। कईयों ने मजाक भी किया—बॉस अब मिश्र जो हो गए हैं।

मैंने उनके सामने बक्स पलट दिया—'देखो, यह मेरी अपनी चीजें नहीं हैं। चिन्मय ने किताबें दी हैं, वांछा को देने जा रहा हूँ।'

दोस्तों में ठहाका गूंजा और मैं निरपेक्ष भाव से सब सुनता रहा। आज सोचता हूँ—जिसके लिए यह छल किया गया, उसे इसकी गंध भी नहीं मिली थी। वांछा ने कभी उन पुस्तकों की सूरत तक नहीं देखी। वे तो आज भी मेरी अलमारियों की शोभा बढ़ा रही हैं। तिलोत्तमा ने एक बार मजाक किया भी था, मैंने यह कह बात दबा दी कि चिन्मय ने मुझसे ऋण लिया था, सो इन किताबों में ही उसने शोध किया है। और उन्हीं पुस्तकों का अध्ययन कर, उन्हीं नोटों और टिप्पणियों को पढ़-पढ़कर उत्तरा अल्पायु में ही इतनी विदुषी-बुद्धिमति हो गई। उत्तरा को तभी इन पुस्तकों का पाप लग गया। पिता के पाप में उसने यही बँटाया है !

स्वयं वांछा चिन्मय को 'वैशाखनन्दन' कहा करती थी। ब्याह के

पूर्व चाचा ने उसे 'भैंसा कवि' कहकर ही याद किया। एक दिन कोर्ट से आकर उन्होंने बड़े ही गंभीर स्वर में मुझे पुकारा था—'कान्त !'

—'जी !' मैं शंकित-सा उनके सामने गया।

—'इस कहानी में सचाई का कितना अंश है कि वांछा और तुम्हारे भैंसा कवि में प्यार चल रहा है ?'

उस जाड़े में भी मुझे पसीना आ गया। लेकिन मैं तो प्रमाण देने गया था—चिन्मय द्वारा वांछा की करेक्ट की गई कविताएँ, जो वांछा ने अपने दूरवासी पुरुषोत्तम को लक्ष्य कर लिखी थीं, मगर जिनपर चिन्मय की शब्द-शैली का रंग चढ़ा था, लाकर सामने रख दीं।

चाचा क्षण-भर मौन व्यथित-से हो रहे, फिर लम्बी सांस लेकर बोले—'विचित्र च्वाइस है इस लड़की की।'

—'मगर सुनो, कुंडली लाए हो ?'

मैंने प्रथम ही वांछा की कुंडली से मिलती-जुलती कुंडली बनवा ली थी, अब तो नकारने का कहीं सवाल ही नहीं था।

—'अच्छा, मैं बनारस भेजता हूँ, जवाब आने पर ही अपना निश्चय लिखूंगा।'

चाचा ने अपनी ज़िद्दी बेटी की सजा की तजवीज एक स्वस्थ, सुन्दर और सच्चरित्र कानून के विद्यार्थी को चुनकर की थी। वह उनके मित्र के यहाँ ट्यूशन करता और स्वयं पढ़ता भी था। इस साल ही उसने लॉ में बहुत अच्छा स्थान प्राप्त किया था और कई वर्षों से उसे देखने-परखने के बाद चाचा चाहते थे, उसे ही पुरुषोत्तम की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा किया जाए ! उसे अपने खर्चे से विलायत भेजकर आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठाने का उनका विचार था। वांछा की इस हरकत से उन्हें चोट-सी लगी। मैं मौन सिर झुकाए कनखियों से उनके नये मोड़ लक्षित कर रहा था।

—विक्रमराव को तो मैं जानता हूँ। उनके सम्मान में जहाँ एक ओर यह रिश्ता स्पृहणीय है, दूसरी ओर लड़के को देखकर मन भड़क उठता है। खैर, कुंडली मिल जाने पर ही कुछ होगा। वह मंगली जो है ! यही एक ऐसी बाधा है, कान्त, नहीं तो पुरुषोत्तम मुझे अग्राह्य नहीं

होता। वांछा की राशि से उसकी राशि बहुत दुर्बल है—घोर वैधव्य योग बनता है। अब तुम्हीं बताओ, बच्चा सांप पकड़ना चाहे, तो मेरा क्या फ़र्ज है ? एक बाप का क्या फ़र्ज है, यह बाप होने पर ही कोई जान सकता है कान्त ! वांछा मुझे अपने प्राणों से भी प्यारी है, उसे सभी तरह से सुखी देखना मुझे अभीष्ट है।'

फिर जाने एकाएक चिन्मय को कौन झक सवार हो गई, ब्याह के नाम से ही भागने लगा। इसी बीच वांछा का तार मुझे मिला—'कम सून।'

अँधेरी रात में जब आधी रात को चाचा के द्वार पर खड़ा किवाड़ खटखटा रहा था—ऊपर दोमंज़िले पर की खिड़की से लगी, दिये की मंधिम लौ में कोई छाया-सी दिखी—'कान्त भैया, आ गए ?'

—'हाँ वांछा, क्या बात थी ?'

—'अभी मालूम हो जाता है, मुझे डूबने से बचा लो, भैया।' अपनी सूनी आँखों में अन्धकारपूर्ण भविष्य को टटोलनेवाली बालिका को क्या मालूम था, बहेलिये का जाल तो मेरे हाथों में था, उसके पिता के हाथों में नहीं।

चाचा ने ही द्वार खोला—'तो आप हैं ? क्या तुम्हें भी गंध लगी है कान्त ? क्या सूंघ रहे हो ? वांछा ने बुलाया है क्या ?'

—'नहीं तो। मैंने आपकी बात समझी नहीं। कुशल तो है ? मैं तो बॉस के साथ आया हूँ। वे कलकत्ते चले गए, दो-तीन दिनों में बाकी काम निबटाकर स्वयं भी वहीं जाऊँगा। फिर दूसरी जगह कहाँ ठहरता चाचा ?'

—'तो तुम ट्रेन से अभी नहीं उतरे हो ?'

—'जी नहीं, ट्रेन से उतरता तो सामान साथ होता। मैं तो बॉस को अभी कलकत्ते की गाड़ी पर बैठाकर चला आ रहा हूँ।'

दो-चार इधर-उधर की पूछकर ही चाचा आश्वस्त हो चुके थे। बोले—'आओ बैठो, कान्त, इस जिद्दी लड़की ने नाक में दम कर रखा है। सुशील को जानते हो न ? उसने लॉ कर लिया है, वह भी अपने पुरुषार्थ और लगन से। वांछा से उसकी कुंडली भी बैठ गई है। यदि

लड़के के पास सच्चरित्रता, सुन्दरता और विद्या तीनों हैं तो केवल दरिद्रता ही बाधक नहीं होती। मैं चाहता हूँ, उसे विलायत भेजकर आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठाऊँ। चाहा था, वांछा के हाथ इसके हाथों में देकर दोनों को विदेश भेज दूंगा, मगर वांछा ने तीन दिनों से अनशन कर रखा है। ऊपर के कमरे में तीन दिनों से बन्द है। अब बताओ, मैं क्या करूँ ?' जाहिर था पुरुषोत्तम के आने के पूर्व ही चाचा इस मामले से निबट लेना चाहते थे। मैंने दबे स्वर से पूछा—'ग़रीबी बुरी चीज़ तो नहीं, पर आपने घर और खानदान तो देखा ही होगा ? ग़रीबी को आप रुपयों से पूर सकते हैं, मगर जहाँ कुलीनता का प्रश्न है ?······'

जैसे वे गहरी नींद से चौंक उठे हों—'यह तो सोचा ही नहीं था, कान्त ? कमलाकर के यहाँ ट्यूशन करके पढ़ते उसे लगातार आठ वर्षों से देख रहा हूँ। लड़का होनहार और मेधावी है, इसीलिए चाहता था, बेटी को यदि आई० सी० एस० पति की ही इच्छा है तो यह साध भी पूरी हो जाती !'

—'मगर यह कितना उचित होगा कि आप जैसा प्रतिष्ठित व्यक्ति बिना छानबीन किए ही किसीको अपनी बेटी ब्याह दे ?'

चाचा मौन भाव से हुक्के की नली मुँह में दबाए बैठे रहे। बीच-बीच में इतनी ज़ोर के कश लेते कि पानी तक बज उठता।

मैंने प्रस्ताव रखा—'न हो मेरे साथ ही चलिए।'

—'हूँ' चाचा ने तीक्ष्ण दृष्टि मुझपर गड़ा दी—'मगर तुम तो कल कलकत्ता जा रहे हो न ?'

—'जी ! मगर वहाँ से दो-तीन दिनों में लौट भी तो सकता हूँ। तब तक आप भी तार दे दीजिए। ऐसा न हो कि लग्न पर वे लोग आ पहुँचे।'

दूसरे दिन जब तार की रसीद लेकर लौटा, तभी वांछा ने द्वार खोले।

वांछा को पूर्ण रूप से मैंने आश्वासन दिया था, उसके कान्त भैया के रहते कोई उसे गढ़े में नहीं डाल सकता। मगर स्वयं कान्त भैया ने

ही क्या किया, इसकी कहीं मिसाल है ?

सुशील में सिवा गरीबी के कोई दूसरा अवगुण नहीं था। चाचा का तार पाते ही उसकी विधवा स्वाभिमानी माँ ने दूसरा उत्तर तार से ही भेजा था—'आप लोग अब आने का कष्ट मत करें। ब्याह इसी लग्न पर होगा, मगर गरीब घर की लड़की से। बड़े घर की बहू उतारने की सामर्थ्य हममें नहीं है।'

इधर चिन्मय के पिता का प्राचीन यश, चिन्मय के बाहरी पहलू के सिवा और कुछ भी नहीं था। तुझे क्या पड़ी थी कान्त, उसके सारे दुर्गुणों पर पर्दा डालकर एक बेकसूर बालिका का गला घोंट बैठा ?

आज सरला के मुँह पर सुख की पकी हुई हँसी है। उसके जवान लड़के पिता का हाथ बटा रहे हैं। इस प्रौढ़ उम्र में भी बहनोई के चेहरे पर जो ताजगी और स्वास्थ्य की रेखाएँ हैं, सरला की तृप्त हँसी से छनकर जो मंदाकिनी बहती है, उसकी तरलता वांछा को क्यों, नहीं मिली ? बनवारी चाचा का पुण्य वांछा को क्यों नहीं फला ! हाय तू जन्मते ही क्यों नहीं मर गया, कान्त !

वांछा से तो आँख मिलाने का साहस खो ही चुका था, सरला से भी आँखें चुराने लगा था मैं। जब भी वह मुझे देखती है बुरी तरह से फटकारा करती है—'तुम्हें यह सब करने का क्या हक़ था भैया ? वांछा को क्यों धँसा दिया ?

तब इच्छा होती, अपना सिर फोड़ लूं। अन्त में तंग आकर ही मैंने कह डाला—'मैं सब कुछ जानता था सरला, जानबूझकर ही वांछा की बलि दी है मैंने।'

—'भला क्यों ? बलि ही देनी थी तो अपनी देते।'

—'बलि दूसरों की ही दी जाती है, सरला। अपनों का तो उत्सर्ग किया जाता है, जो वस्तु तुम्हारे भैया के पास कभी भी नहीं रही।'

सरला मुझे देखती है तो मुंह फेर लेती है। उसका ही कथन है—'कम से कम चिन्मय और वांछा से तो अपनी पाप-कथा खोलकर प्रायश्चित कर लूं।'

लेकिन आज जब ऐसा हृदयविदारक दृश्य देखा, किस प्रकार मेरे

होंठ सिले रह सकें ? मुंह बन्दकर मैं सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता हूँ, इसीलिए न कि स्वयं एक बेटी का बाप हूँ ?

उसी बेटी ने जब मेरे अहंकार को कुचल दिया, अपनी बोली कहाँ गुम हो गई थी ? सिर्फ ताकता रह गया। उस फूल-से मुंह से ऐसे कठोर शब्द निकले कि हतवाक् हो गया।

उत्तरा ने कहा—'यह मत समझना पापा, मेरी नकेल पकड़कर जिधर घुमा दोगे, घूम जाऊँगी। ऐसा ही था तो मुझे ऊँची शिक्षा क्यों दिलाई ? तुम 'पारस' को न टीपन की कसौटी पर कस सकते हो, न जातीयता की शिला पर ही। तुम्हें तो उसका आभार स्वीकार करना चाहिए कि उसने एक मामूली क्लर्क की बेटी से ब्याह करना मंजूर किया।'

उत्तरा ने चपत मारकर बता दिया कि मैं एक मामूली क्लर्क भी हूँ। उसकी माँ ने इसपर कुछ विरोध किया तो वह आग-बबूला होकर बोली—'टीपन की इन मेष-वृष राशियों से मेल बिठाने से क्या होगा मम्मी ? स्त्री-पुरुषों के प्रत्यक्ष और वर्तमान लक्षणों के द्वारा जिन गुणों का मिलान महर्षि वात्स्यायन ने किया है, उसपर यदि ध्यान दिया जाता तो दाम्पत्य जीवन का शाप कब का दूर हो जाता ! जान लो, मैं उत्तरा हूँ, घुट-घुटकर मरने के बदले शक्ति-भर संघर्ष करूँगी।'

और पत्नी के समझाने पर मैंने पारस को मान लिया। काश, वांछा भी यही विद्रोह कर पाती ? लेकिन वांछा ने तो मेरा विश्वास किया था। सुशील से ब्याह काट देने पर उसे अपने कान्त भैया पर इतना भरोसा था कि वह उसके साथ अन्याय न होने देगा। स्वयं चाचा और चाची ने संतान की मर्म-व्यथा नहीं समझी। वांछा माँ-बाप से अधिक विश्वास मेरा करती थी, इसीलिए न कि मैंने उसके समक्ष चिन्मय के अवगुणों पर पर्दा डाला था ?··· कैसे कहूँ, वांछा ने विरोध नहीं किया ? ब्याह के कुछ घंटे पूर्व जब चिन्मय के वे भयानक पत्र मैंने दिए, वह किस प्रकार तड़प उठी थी ?··· बुराई करनेवाले के हाथ बुराई करने के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उनसे अपना भी नहीं बच पाता।

वांछा की बलि इन्हीं हाथों चढ़ाई। कई उगते भविष्यों को इन्हीं हाथों मसला और अन्त में इन्हीं हाथों उत्तरा को भी मिटाना पड़ेगा !

अवश्य ही मिटाना पड़ेगा !

'यह मत भूलना बेटी, कि आज तू विद्रोह करके बच गई मगर इस शाप के अप्रत्यक्ष प्रभाव से तुझे कैसा बचा पाऊँगा ?

बनवारी चाचा अस्थि-विसर्जन के बाद जब विजय को लेकर चलने लगे, बच्चों की तरह पुक्का फाड़कर रो दिया उन्होंने—'श्रीकान्त, मैंने तुम लोगों के साथ भलाई की, उसीका बदला तुमने मेरी मासूम बच्ची के साथ इस प्रकार लिया। यह मत भूलो श्रीकान्त, तुम्हारे भी बेटी है। जिस तरह मैं आजीवन दाह में जलता रहा, तुम भी जलोगे, तुम भी जलोगे श्री कान्त ! वांछा की हाय में वह शक्ति न भी हो, पर एक पिता की हाय कभी व्यर्थ नहीं जाएगी।'

उत्तरा आज भी उसी उम्र से गुजर रही है। आज जिस ममता से बाधित होकर मैं वांछा को मनाने आया था, उससे अपनी उत्तरा के लिए आशीर्वाद मांगने आया था कि मेरे पाप की छाया मेरे बच्ची पर नहीं पड़ सके।

यहाँ तो कुछ और ही देखना बदा था। ज्योंही बनवारी चाचा के द्वार पर मेरा रिक्शा लगा, चाची ढाढ़ें मारकर रो उठीं। बनवारी चाचा ने मुझे देखते ही मुंह फेर लिया।

चिन्मय ने वांछा पर छुरे से प्रहार किया है, यह सुनते ही अवाक् रह गया। बनवारी चाचा के साथ ही उसे अस्पताल देखने गया। बीस वर्ष पहले चम्पे की कली की तरह जिसकी हँसी की गंध गूँजा करती, वही वांछा कनेर के सूखे मुरझाए फूल की तरह पड़ी थी।

वांछा की पीड़ा, मर्म-व्यथा से ऊपर नन्हे विजय का सुबकना लगा—'नानाजी, अब माँ को यहीं छोड़ देना होगा ? फिर कौन मुझे प्यार करेगी ? किसे मैं माँ कहूँगा और पापा से कौन मुझे बचाएगी ?'

छि:, उस नरराक्षस के भीतर इतनी भी ममता नहीं है, ऐसा कभी सोचा नहीं था। आदिकाल से ही दानवों, राक्षसों द्वारा देवता, मानव और गंधर्व कन्याओं के हरण की कथा चली आ रही है, पर पत्नी बनाकर उन असुरों-अमानवों की आत्मा में इतना विवेक, इतनी ममता उपजी, उसे प्रिया ही नहीं, प्राणप्रिया बनाया ! आदमी का भक्षण

करनेवाले राक्षसों की कहानियाँ मैं भी सुन चुका हूँ—वे पत्नी को प्राणों से भी अधिक प्यार करते रहे हैं। अपने बच्चों तक को खा जानेवाले नर-पशु भी मादा के आगे पूँछ हिलाता है, फिर यह चिन्मय क्या है ? छिः, आदमी इतना कुत्सित और पतित होता है ?

जानता हूं, मैं ही इस पाप-यज्ञ का होता हूँ, लेकिन उस पामर पशु में इतनी भी बुद्धि नहीं है ?

तभी कानों में शीतकाल की बर्फ जैसी कनकना देनेवाली आवाज़ में बनवारी चाचा ने कहा :

—'अब तो स्वयं पिता हो गए कान्त, अब समझ सकते हो न ? यही भलाई करने का प्रायश्चित्त है कान्त। दूसरों का हित सोचने के काजीपन में मैंने अपनी बच्ची की भलाई खो दी कान्त।'

बनवारी चाचा रोते हुए बाहर चले गए। मैं भी उनके साथ बाहर आया, उनके पाँवों पर लोट गया—'चाचा, यह शरीर आपके ही अन्न से बना है, चाहे जो भी सज़ा दे दो, मेरा कलुष भी धुल जाएगा। पर उत्तरा को शाप मत दो चाचा, वह भी तो आपकी है।'

चाचा ने पाँव खींच लिए 'तुम्हें सज़ा देकर बुढ़ापे में अपना हाथ नहीं गन्दा करूँगा कान्त। उत्तरा का मंगल हो। मेरी बेटी जिस आग में जीवन-भर जली, नहीं चाहता संसार की कोई कुमारी उसकी आवृत्ति करे। वांछा के इस मार्मिक अन्त में मेरे दंभ का समुचित उत्तर भी तो नियति ने दिया है!'

जानता हूँ चाचा का शील और सौजन्य कभी उत्तरा का अमंगल नहीं चाहेगा, किन्तु उत्तरा को मेरे पाप अवश्य ही भोगने पड़ेंगे!

अस्पताल से भी पिटा-सा लौट आया, सुना वांछा ने मेरा मुंह देखना भी अस्वीकार कर दिया है।

क्यों न करे ? मैंने आरम्भ से लेकर अन्त तक उसे छलने का प्रयास करना चाहा। यदि पुरुषोत्तम को ही यह राज मालूम हो जाए कि जो पत्राचार लगातार छः महीने तक उसकी पत्नी और वांछा के बीच चलता रहा, उसकी 'वांछा' वांछा नहीं, कान्त था, तो वह आज भी मेरी तस्वीर बदल सकता है।

स्वार्थ की कड़ियों से मैं बुरी तरह कसा जा चुका हूँ। मेरी मुक्ति कभी नहीं हो सकती। अभी से ही भावी अमंगल की प्रेत-छायाएँ मेरे गिर्द घिरने लगी हैं। लगता है, पूर्व जन्मों के पाप भी मूर्त होकर जी उठे हैं!

एक ऐसी ही गहन उदास सन्ध्या में वांछा ने कहा था—'मैं उनके (पुरुषोत्तम) बिना कहीं सुखी नहीं हो सकती, कान्त भैया, मेरा व्रत क्यों भंग करते हो? एक बार मुझे उनके चरणों में डाल दो, फिर देखूँ किसकी शक्ति है, जो उन्हें मुझसे छीन सकेगा?'

—चिन्मय की शक्ति है, वांछा!'

—'चिन्मय स्वयं इस ज्वाला में जल मरेंगे, कान्त भैया। शरीर से न सही, मन से उनका नाम कभी नहीं भूलूँगी, यह मुझसे कौन छीन सकता है?'

—'जा, पागलपन मत कर। चाचा ने भेजा है मुझे, देख यह कंगन पसंद है तुझे?'

—'यह कंगन नहीं है कान्त भैया, सोने का यह सांप मेरी कलाई में जी उठेगा। मुझे तो इसका दंश जीवन-भर झेलना ही है, तुम सब भी आँच से नहीं बचोगे, कान्त भैया! किसी प्रकार यह ब्याह भी काट दो!'

क्या मैंने अपने लिए शाप का फंदा स्वयं ही नहीं गढ़ लिया था? उस दिन यह ज्ञान कहाँ चरने गया था कि मैं भी बेटी का बाप बनूँगा?

मैंने किस खोखले विश्वास से कहा था—'तकदीर से छेड़खानी नहीं किया करते वांछा! यदि ऐसी निष्ठा है तो वह दूर रहकर ही सुखी रहे, ऐसा क्यों नहीं चाहती? क्या आंगिक सुख ही तुझे अभीष्ट है?' छि:, कैसे यह बात मुंह से निकली थी? काश यही बात उत्तरा से कही होती, वह जूतों से मार बैठती। वांछा केवल रोकर रह गई थी।

शिव की तरह सारे ज़हर वह मासूम बच्ची पीती रही। ब्याह के कुछ घंटे पूर्व विद्रोह किया था, पर उसके पहले ही मैंने पुरुषोत्तम को जो मंत्र फूंका था कि वह सिर पटककर मर भी जाती, वह उसे नहीं मिलता।

विलायत से लौटने पर उसने रत्नाकर द्वारा संदेश भेजे, स्वयं

मुझसे मंगल भवन होटल में आकर मिला और मात्र एक बार वांछा से मिलने-भर का अनुरोध किया था।

तब मैंने वांछा और चिन्मय की गढ़ंत प्रेमकथाएँ नमक-मिर्च लगाकर सुनाईं। वांछा की वे कविताएँ जिनमें वियोग की दारुण ज्वाला होती और जिन्हें अपनी मानकर पुरुषोत्तम के लिए कविताएं होती थीं, उसे दिखलाईं। यह रहस्य तो स्वयं मुझे छोड़कर और कोई भी नहीं जानता, वांछा की कविताओं में स्वयं उलट-फेर किया करता था।

आज भी उस प्रदीप्त ललाट पर पसीनों की चुहचुहाती बूंदों की नमी प्राणों को छू जाती है। किस प्रकार हार की ग्लानि से उसका सिर झुक गया था ?

आध घंटे तक कुर्सी पर आँखें बन्द किए वह अवसन्न बैठा रहा, फिर भर्राए गले से कहा था—'मेरी मंगल-कामना इस युगल के प्रति हमेशा ही फूल बिखेरती रहेगी।'

पुरुषोत्तम की वह दबी निश्वास आज भी कानों को सुनाई पड़ती है ! उसकी व्यथा आज भी प्राणों को सर्द कर जाती है। मुझे क्षमा कर दो, न्यायपति, आज समझ सका, वांछा तुम्हारे किन गुणों की पूजा करती थी। तुमने जिस आसन से चिन्मय को सजा दी, मुझे क्यों छोड़ दिया ? चिन्मय तो फांसी पर झूलकर सभी पाप-तापों से मुक्त हो जाएगा, मैं भूल सकूंगा, यह सब ? पापी तो मैं हूं ! असली अपराधी मैं हूं, पुरुषोत्तम, मैं यहां हूं, मुझे भी फांसी दे दो।

नहीं, नहीं, यह भी मेरा ढोंग है। ऐसा श्मशान वैराग्य मुझमें कई बार जन्मा और मरा है !

पुरुषोत्तम की पत्नी छवि का पत्र पढ़कर वांछा तीन-चार घंटे तक लंबी बेहोशी में खो गई। मैंने ही तो चिन्मय का पत्र समझकर उसे लिफाफा दिया था, पढ़ते ही यह रंग देखकर स्वाभाविक कौतूहल जगा।

मैंने छवि का पत्र पढ़ा और जब घर-भर के लोग घबराहट में भाग-दौड़ रहे थे, तब भी मैं अपने स्वार्थ की ही सोच रहा था।

वांछा बेहोशी में चिल्ला उठती—'नहीं, नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता, ऐसा कभी नहीं हो सकता।' वांछा की ओर से छवि के नाम

छः मास तक पत्र लिखता रहा और किसीको सन्देह नहीं हुआ।

फिर पता नहीं, वांछा के जलते ही छवि का उत्तर आना बन्द गया। भय के मारे मेरे प्राण सूख गये। हो सकता है उन लोगों पर प्रकट हो चुका हो, वांछा के नाम किसी तीसरी शक्ति के पत्र रहे।

पर अपने बचाव का उपाय भी मैंने पहले ही कर लिया था। छ... पोस्टमास्टर के नाम से उन्हें किसका पता लगता ?

इस वांछा को ही, क्या कहूं ? यही कौन कम आफत की पुड़िया है ? उसे यह जल मरने की भी क्या सूझी ? यह कौन-सा तुक है ? प्रेमी नहीं मिला, पति ने अपना हक प्राप्त किया तो स्त्री जलकर मर जाए ? किसी प्रकार पुलिस को यह राज़ मालूम हो जाता, तो ज़िन्दगी-भर जेल में झोंक दी जाती। कदाचित् वहीं मर जाती और पुलिस के हाथ यह मामला जाता तो कितना भयानक होता ? कौन-सा पति इतना अपमान, वह भी अपनी विवाहिता से सह सकता है ?

सुनता हूं, पुरुषोत्तम स्वयं भ्रमर-वृत्ति का रहा है। कौन जाने, वांछा ने इसी अतिशय भावुकता से अपना जीवन वहां भी दुर्वह नहीं बना लिया होता ? जिस अपूर व्यथा ने उसकी पीड़ा को स्थायित्व दिया, उसे वह आत्मसात् कर पाती तो जीवन अमृत हो जाता। इस अग्निकांड के बाद जब चिन्मय मुझसे मिला, बड़े अनुत्तप्त कंठ से उसने कहा—'वांछा ने तो प्रथम ही लिखा था—मैं देवता का निर्माल्य हूँ, मुझे गलत मत समझिए।' और इसी स्पष्टोक्ति के उत्तर में उसने साल-भर तक के पत्रों में अपने किए सारों पापों का वर्णन किया था। यह पाप मुझे ही लगता था, हाय रे !

चिन्मय का यह कहना—'सृष्टि का कौन-सा ऐसा जोड़ा है, जहाँ वासनारंभ में पुरुष वर्ग की ओर से पशुता का प्रदर्शन नहीं हुआ ? मगर इसका विरोध क्या इस प्रकार फांसी का फंदा तैयार करके ही किया जाता है ? अब मैं कभी वांछा का मुंह नहीं देखूंगा, कान्त जी। भला चाहते हो तो मुझे मुक्त कर दो वरना मैं वांछा को ही मार डालूंगा।'

सुनकर कभी यह नहीं विश्वास हुआ था, इस दाम्पत्य के आरंभ की

मुझे अंत भी फांसी के फंदे से ही होगा। मैंने तभी बनवारी चाचा से मिल नहीं कहा था ?

इस वांछा को ही क्या दोष दूं ? घर की एकमात्र लाड़ली, बूढ़ी कर से दिन-रात पूजा-पाठ में लीन, चाची घर-गिरस्ती में व्यस्त, चाचा होतीअपनी वकालत से ही समय नहीं, उसे किसने व्यावहारिक जीवन की शिक्षा दी ?

उसने तो सिर्फ यही जाना था !

'सती किन्ह सीता कर भेषा...'

और सती की तरह उसने जल मरने की ही ठानी। उसकी डायरी चुपके से लेकर पढ़ चुका हूं—चिन्मय की ओर झुकने का प्रमुख कारण यही था कि किसी प्रकार उसे मालूम हो चुका था कि चिन्मय कई लड़कियों से मित्रता रखता है और मात्र यही सुनकर वह उसे त्याग देगा कि वह दूसरे से प्रेम करती है। इस तरह वह जीवन-भर तप लेगी।

उसने पुरुषोत्तम को कोई पत्र भी लिखा था, तिसपर भी उस ज़िद्दी युवक का मन नहीं पसीजा। निश्चय ही मुझसे मिलने के बाद यह घटना घटी होगी। अवश्य ही पुरुषोत्तम ने उसे ग़लत समझा होगा तभी वैसे कठोर शब्द कहे। इसमें किसीका दोष नहीं। पुरुषोत्तम, चिन्मय, वांछा सभी अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। वे तो धागे पर नाचनेवाले पुतले हैं, जो इन उंगलियों के इशारे पर नाचा करते थे।

कोई है, जो इन उंगलियों को काटकर भून डाले ? इन आंखों को निकालकर उसी पत्थर पर तोड़ दे, जिसपर वांछा चूर्ण कर डाली गई ? क्योंकि इन आंखों के आंसुओं से बनवारी चाचा की, कौतूहल और भयपूर्ण करुणा से भरी नन्हे विजय की दृष्टि, जो चिता की दीर्घ धूमराशि में कुछ ढूंढ़ रही थी, उस समुद्र जैसे गंभीर, योगी-से आत्मजयी पुरुषोत्तम की दृष्टि का तेज सहा नहीं जाता। काश वे सारी छायाएं मिट जातीं।

वांछा के आंसू से भीगे स्वर आज भी कानों में गूंज उठते हैं, जब पुरुषोत्तम के प्रवास-काल में भविष्य की आशा और वियोग की विह्वलता से भरकर वह रात के सूने प्रहर में गाया करती थी :

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा
जानत पिया एक मन मोरा ।

रामायण के प्रिय शब्द का पिया बन जाना सुनकर मैंने उसकी खूब खिल्ली उड़ाई थी । लेकिन सहज विश्वास की उस साधना का, प्रेम के उस निगूढ़ तत्त्व का प्रत्यक्ष दर्शन, अभूत अनुभव तो तभी हुआ, जब न्यायाधीश की पोशाक उतारकर कुर्ता-धोती में तेज़ी से गाड़ी चलाता हुआ पुरुषोत्तम वांछा के शव को श्मशान में उतारते ही आ पहुँचा था।

जिसके जीवन का भार अभागे चिन्मय से संभालते नहीं बना, उसी-की मृत, निश्चेष्ट और पार्थिव काया को फूल की तरह अपने हाथों पर उठाए उसने तीन बार गंगा की धार में डुबोकर धोया, जैसे वांछा के जीवन-पुष्प के सारे गर्द-गुबार बहाकर निर्मल कर दिया हो । उसने भीगे शव को किस ममता-विह्वल हाथों से चंदन की चिता पर सुलाया ! अपने अरमानों के ताने-बाने से बुनी उस लाल साड़ी में जिसे विलायत-प्रवास से लौटती बार खरीदकर इतने दिनों तक संजो रखा था, वांछा को लपेटा, उसके दोनों ओर लटकते हाथों को समेटकर लाल गुलाब के ताज़े फूल भरे और चारों ओर बिखरे उन लंबे केशों को समेट-कर उसके दोनों ओर रखा, जैसे भीगे बालों को सुखाने की चेष्टा में वांछा थककर सो रही हो—स्वप्नलीन और निश्चित। उसकी मृतकाया से तृप्त-तुष्ट लावण्य की आभा फूट रही थी। मुझे याद नहीं, कब मैंने वांछा के मुंह पर वैसी परितृप्ति देखी थी । बचपन से ही शरारती, चंचल और उपद्रवी बालिका के रूप में मैंने देखा, वही आज किस जादू के स्पर्श से शान्त, सुस्थिर और निरुद्वेगमयी हो गई थी !

आह, यह उसी प्रेमतत्त्व का प्रभाव था, जिसे मैंने वांछा के जीवन-काल में कभी नहीं जाना ।

पुरुषोत्तम की किसी चेष्टा में वासना की मलिनता, नश्वर भंगुरता की कातरता और दिखावट नहीं थी, जो कुछ हुआ, लगा यही होना था । सहज स्वाभाविक गति से, गंभीर शान्त भाव से और प्रेम की उसी निगूढ़ अभिव्यक्ति से ही । लगता था, जैसे इस श्मशान में मात्र पुरुषोत्तम और वांछा ही हैं, छाया की भांति कई क्रियाओं का मौन भाव से संपादन

करालो छवि और पुरोहित को छोड़कर किसीकी चेष्टा की भलक नहीं मिली वहां। यह उसी प्रेमतत्त्व की गूंज थी या अन्य किसीकी ? लगा, दूर बैठी बांछा कहीं से गा रही है—'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत पिया एक मन मोरा।'

पुरुषोत्तम ने थरथर कांपते विजय को गोद में उठाकर उससे बांछा की 'कपाल-क्रिया' सम्पन्न कराई और स्वयं एक ही स्थान पर खड़ा होकर उस चिता की गंध, लपट और ज्वाला से दूर जाने किस लोक में खोया उसे अपलक निहारता रहा, यह उसी प्रेमतत्त्व का ही प्रभाव था।

एक बार ही चिता से धू-धूकर ज्वाला उठी, और आकाश की ओर बढ़ चली। फूट-फूटकर रोते विजय को गोद में संभाले और वेदना-मूर्च्छित चाचा का हाथ पकड़कर छवि भी दूर चली गई, पर पुरुषोत्तम से कुछ कहने-सुनने, उसकी ओर देखने और हटाने की सामर्थ्य किसमें थी ? एकटक शून्य दृष्टि से उन लपटों की ओर वह जाने क्या देख रहा था।

घण्टे-भर में ही वह लपलपाती चिता राख हो गई और सबके साथ छवि दूध, तिल और तर्पण का सामान लेकर, विजय का हाथ पकड़े उसके सामने आ खड़ी हुई।

धीरे से उसके कंधे पर हाथ रखकर उसने उसे सचेत किया और उसके बढ़े हाथों में सारी चीजें थमा दीं।

चिता के चारों कोनों पर दूध, जल और तिल डालकर विजय जब रो उठा, किस पत्थर की छाती स्थिर रह पाती ?

—'आपने कैसा फैसला दिया, सर ? मेरी माँ को बचा क्यों नहीं लिया ?'

विजय ने बांछा की सारी पीड़ाओं को केन्द्र बनाकर पुरुषोत्तम के आगे विराट प्रश्न लगा दिया था।

और तब संयम के बाग से कसे उस साधक तुरंग को एक बार ही सारे बन्द तुड़ाकर छटपटाते मैंने देखा। सुना, पुरुषोत्तम को आज पहली बार रोते देखा गया ! निर्झर-आवेग से अश्रु चू रहे थे और गर्म चिता की भस्म उन्हें पीती गई !

वांछा की प्यास अवश्य ही तृप्त हो गई होगी। उसकी डायरी में ही पढ़ा था—'जिस दिन तुम मुझे समझोगे और मेरे लिए स्नेह के दो बूँद आँसू गिराओगे, मेरी मुक्ति उसी दिन होगी।'

जिस स्थान पर वांछा को नहलाकर रखा गया था, छवि के द्वारा उसकी माँग भरी गई थी, पाँव में महावर डालते समय आलता की कुछ बूंदें गिरकर दाग बना गई थीं, मैंने देखा पुरुषोत्तम किन विकल पलकों से उन्हें पोंछ रहा था! कितनी पीड़ा से उसने उस धरती को सहलाया जिसकी अभिव्यक्ति के शब्द नहीं हैं!

बचपन में एक बार सीता बनवास का नाटक चाचा के साथ ही देखा था, वांछा भी साथ थी। पाताल प्रविष्टा सीता की वियोग-व्यथा में राम का विलाप देखकर सबकी आँखें भर आई थीं। उसके व्याकुलता से पृथ्वी सहलाने में, सीते-सीते कहकर पुकारने में कुछ भोंड़ेपन का प्रदर्शन भी था, पर अन्त में जब हम सभी उठने लगे, वांछा की स्वप्नलीन आँखें उस सूनी रंगभूमि की ओर जाने क्या देखती रही थीं।

—'चल बेटा!' चाचा ने उसे थपथपाया। चौंककर वांछा ने देखा। आँखें रोते-रोते लाल हो गई थीं।

—'इसीसे तुम्हें नहीं ला रहा था।' चाचा ने स्नेहभरी खीझ से कहा—'अब सारी रात सपने में भी रोती रहोगी। अरी, यह सचमुच के राम-सीता थोड़े ही थे?'

—'सचमुच के राम कैसे थे, बाबूजी!' वांछा का भोला प्रश्न अगित जिज्ञासा से भरा था।

—'उसने तो पृथ्वी को तीर से फोड़ देना चाहा था, फिर विवश होकर धरती पर लोट गया था। ऐसा 'सीते-सीते' थोड़े ही किया था?'

—'मगर सीता तो तब भी नहीं निकली थी न?'

—'कैसे निकलती?' चाचा स्वयं स्वप्नाविष्ट-से हो रहे थे। भावावेश में उनकी मुट्ठियाँ बंधी थीं।

'राम ने उनका अपमान किया था बेटा, स्त्री सब कुछ सह सकती है, अपमान नहीं सह सकती!'

और अपने कथन पर चाचा स्वयं ही कुंठित हो रहे।

वांछा ने होंठों में ही दुहराया था—'स्त्री सभी कुछ सह सकती है, अपमान नहीं सह सकती ! फिर तुम माँ का अपमान क्यों करते हो बाबूजी ?'

'कहाँ तुम्हारी माँ का अपमान करता हूँ, बेटी ?'

'क्यों अभी ही तो बकझक किया है ? माँ कहती थी—मैं ही हूँ जो सब अपमान सहती हूँ ।'

'यह दूसरी बात है वांछा, राम ने सीता का दूसरा अपमान किया था ! आह, सच तू बड़ी जिद्दी है ।' और तुरत ही चाचा के बदले हुए तेवर से हम सिहर उठे थे ।

आज उस राम बने अभिनेता और स्वयं अपनी मर्यादा में बँधे पुरुषोत्तम की विकलता का अन्तर समझ सका ! आज जान पाया, त्रेता के मर्यादा पुरुषोत्तम ने किस मानस-मंथन से भरकर धरती से अपनी प्रिया की भीख की होगी ?

एक विराट मौन, समाधि की सी स्थिरता और मुद्रा का वह गांभीर्य वनपुत्र पुरुषोत्तम की मर्यादानुकूल ही था ।

निःशब्द धीर भाव से लगे पछाड़ खाते बनवारी चाचा को संभालकर गाड़ी में बिठाया । निजाम को प्यार से थपथपाकर उसे संयत किया और सबके जाने पर चिता की शेष भस्म धोती के खूँट में बांधकर अपनी गाड़ी में आकर निढाल होकर पीछे जा बैठा ।

ड्राइवर के स्थान पर स्वयं बैठकर रवि ने पूछा 'कहाँ चलूं ?'

'कहीं भी चलो !'

जैसे अपने को उसने एकदम खो दिया हो ।

मेरे प्राण की व्यथा सभी पर प्रकट हो चुकी है, तभी तो किसीने मुझसे बात तक नहीं पूछी । किसीने मुझे वापस चलने के लिए नहीं कहा । मैं सूने श्मशान में पुराने पीपल तले खोया-सा बैठा रहा ।

कहाँ जाता मैं ? कितनी लाशें आईं और राख बनी, मैं बैठा देखता रहा । मेरे लिए कुछ नया नहीं था । मैंने स्वयं ही इस लहलहाती बगिया में आग लगाई थी । मैंने इन्हीं हाथों कितने संसार सूने किए, श्मशान की शून्यता मुझे क्या डराती ? मैं इसी अवहेलना के योग्य

ठहरा। सभीने मुझे त्याज्य समझा।

मगर मेरी करुणामयी बहिन, सबके लाख-लाख दुहराने पर भी तू मेरा पक्ष लेती थी। मुझे कैसे अनदेखा कर देती? धारा में जहाँ छाती-भर पानी में खड़े होकर पुरुषोत्तम ने तुम्हें अन्तिम बार स्नान कराया था, ठीक वहीं, भीगे-भीगे मुँह, पलकों और केशों से पानी टपकाती तू प्रकट हुई—'कान्त भैया, देख लिया, मेरा निश्चित ध्रुव क्या था?'

मैंने एक बार खीझकर वांछा की हठधर्मी पर कहा था—'यो ध्रुवाणि परित्यज्य···'

दूसरे ही क्षण लगा, वांछा की जगह उत्तरा आ खड़ी हुई—'पापा, मेरा भी यही ध्रुव है!'

—'नहीं, नहीं।' मैंने डरकर आँखें मीच लीं। पास ही वांछा की खिलखिलाहट स्पष्ट ही सुन पड़ी:

—'कान्त भैया, क्या पानी से डर लगता है?'

बचपन में एक बार—जब चाचा की आश्रय-छाया में ही रहता था, मूसलाधार वर्षा में छत के नल के नीचे, पतले कार्निस पर खड़ी वह घंटों से नहा रही थी। पानी की धारा में खड़ी होकर इस प्रकार घंटों भीगने में जाने क्या आनन्द, कैसा नशा था उसे।

उस दिन बनवारी चाचा घर में नहीं थे। चाची कह-सुनकर हार गई, वह टस से मस नहीं हुई। पानी के वेग से शरीर का रंग असाधारण श्वेत हो चला था, दाँत बजने लगे थे, मगर वह शून्य में दृष्टि गड़ाए, भीगी पलकों से इसी प्रकार खड़ी हँस रही थी!

ज़रा-सा पांव फिसला नहीं कि गिरकर पसलियाँ तोड़ लेगी। ऐसी जगह बेटी की हठधर्मी और माँ का छाती पीटना मुझे नहीं सुहाया और मुंडेरों से बचता हुआ, ठीक उसके पीछे जाकर मैंने उसकी चोटी खींचकर उसे वहाँ से हटने को विवश किया था।

वांछा की गीली, क्रोध-दुःख-भरी चितवन आज भी भली भाँति याद है!—आठ-दस वर्ष की आयु में कहा गया वाक्य अब भी गूंज रहा है—'कान्त, भैया, इसका बदला तुम्हारी बेटी से लूंगी मैं!'

—'चल हट, मुझे बेटी होगी तब न?' तब मैंने उसे डाँट दिया था,

आज वे ही स्वर छाती चीर रहे हैं।

वांछा के शाप से उत्तरा कभी मुक्त नहीं हो सकती। मैं जाकर उत्तरा को समझाऊंगा, चाहे जिस किसीसे भी प्रेम करना हो करे, पर उसका ब्याह नहीं करूँगा मैं।

संतान के फलने-फूलने की कामना उसी पिता की सफल हो सकती है, जो दूसरों को खिलने का मार्ग देता हो। दूसरों के पौधों में स्नेह-जल सींचनेवाले माली ही अपने लगाए वृक्ष की छाया में जुड़ाने का आनन्द जान सकते हैं।

मैंने तो अपने आश्रयदाता वृक्ष पर ही कुल्हाड़ी मारी।

मगर क्या चाहकर भी उत्तरा को इस ब्याह से बचा सकूँगा? मैं नहीं भी करूँगा तो वे 'सिविल मैरेज' कर लेंगे। उत्तरा को शापों के नाग इसी तरह डसा करेंगे, जिसकी ज्वाला आज से ही मेरी छाती को जला रही है।

वांछा के आँसुओं पर मेरा छल विजयी हुआ था, पर उत्तरा ने जब रो-रोकर अपना निश्चय सुनाया तो मैं नतग्रीव क्यों हो गया? क्या इसीलिए कि उत्तरा में मैं स्वयं विद्यमान हूँ?

काश, बनवारी चाचा ने भी इसी तरह वांछा से अपनी हार मान ली होती तो ये दिन किसीको भी देखने नहीं पड़ते।

मध्यम वर्ग की खोखली मर्यादा, झूठी शान और अभिजात भावना की हठधर्मी जाने कितनी वांछाओं को खा गई।

बनवारी चाचा पुराने ज़माने के थे, पर मैंने तो ज़माने के नये रंग देखे थे। किस मान्यता पर मैंने वांछा को चिन्मय जैसे असुर के साथ बांध दिया? क्या उत्तरा का यह कथन समाज की वज्र रूढ़ियों के लिए सुदर्शन चक्र नहीं है कि—'वात्स्यायन ने नारी-पुरुष के जिन भेदों की विवेचना कर समाज के मार्मिक तत्त्व को सुलझाया है, और उसे भुलाकर जिन विगत मृत राशियों के पीछे लोग भागते हैं, इसे समझ लें तो जीवन का मापदंड ही बदल जाए। रोग, क्लेश और अशान्ति के बीज सदा के लिए निर्मूल हो जाएँ।'

कहाँ पूजन की चंदन-चर्चित कलिका-सी वांछा, कहां भँगेड़ी, अहंकारी,

शराबी और दुराचारी रीतिकाल के कवियों की अंतिम कड़ी-सा चिन्मय !

जिसके होंठ-भर ही अग्निगीत उगलते थे, प्राणों में मातृभूमि का रुदन कभी नहीं उमड़ा ! जिसके आवरण की एक झलक ही चकाचौंध भरती, आत्मा को मिलन का आनंद कभी नहीं मिला। अनेक बार जिसे नशे में धुत देख चुका था। भंग का गोला निगलकर जिस 'भीम-भक्षण' का प्रदर्शन वह मित्रों में कर चुका था, क्यों नहीं मुझमें यह बुद्धि जगी कि इतना खानेवाला राक्षस कभी परिवार का पेट नहीं भर पाएगा !

बचपन से ही काले रंग के खिलाफ जिसे घोर वितृष्णा थी, जो भैंस का दूध तक इसलिए नहीं पीती थी कि काली हो जाएगी, उस गौरी-सी कन्या को शिव की आराधना से विरत कर इस काले दैत्य के द्वारा अपहरण कराने में मैं क्यों सहायक बना ?

ब्याह-मंडप में वर-वधू की इस विलक्षण जोड़ी को देखकर कितने होंठों के कोण नहीं बने थे ? कितने अरमान से वांछा ने भावी गृहस्थी के लिए कढ़ाई का काम सीखा था। सबकी दृष्टि बचाकर पुरुषोत्तम के नाम का पहला अक्षर उन सबके बीच काढ़ा था, उसने कभी ऐसी कल्पना भी नहीं की होगी, उनका ऐसा दारुण-दुःखद प्रयोग होगा !

चाची से ही सुना था—'वांछा के प्रथम पुत्र के शव को चिन्मय ने उसके बनाए उन सभी वस्त्र-खंडों से चुन-चुनकर लपेटा था !'

सुन चुका हूँ—बच्चा एकदम पुरुषोत्तम की आकृति का ही था। इसके पूर्व ही कोई महात्मा आए थे, यह भी उन्हींसे मालूम हो चुका है और यह भी जान चुका हूँ कि शिशु-जन्म के दूसरे ही दिन जब जबरन चिन्मय 'सौरी घर' में जाकर वांछा पर बरस आया था, सभी स्तब्ध-कंपित हो गए थे। फिर जिन लक्षणों से बच्चे की मृत्यु हुई, चिन्मय ने वांछा के साथ जिस पैशाचिकता का परिचय दिया, चाची ने रो-रोकर सभी सुनाया था।

—'मैंने अपने बेटे की तरह तुझे समझा था कान्त, तूने ऐसा क्यों किया ?'

हाय, मैं क्या जवाब देता !

जिस कठोर साधना से वांछा ने अपने शिशु में उन्हीं रेखाओं को उतारा होगा, उसे पापी चिन्मय ने क्या समझा ?

स्वयं चिन्मय के अभिन्न मित्र उमेश से आँखों देखी उसकी क्रूरताओं का वर्णन सुनकर कांप उठा हूँ। उसी दिन जान पाया मैंने कितना गर्हित पाप किया है। लेकिन मार्जन का तब कोई उपाय नहीं था, था भी तो वांछा का विश्वास खो चुकने पर किस मुंह से उसे कुछ कहता ?

उससे आँख मिलाने की ताब भी मुझमें नहीं थी। वांछा के नाम से छवि को पत्र लिखने की भावना में मूलतः यही प्रायश्चित्त काम कर रहा था, भले ही मुझमें भी स्वार्थ भरा था, पर विधि को यह भी मंज़ूर नहीं हुआ। ऐन मौके पर ही वांछा जल गई।

विधाता ने मनुष्य को दो हाथ, बुद्धि, विवेक और सामर्थ्य देकर उसे अपने ही हाथों बंदी बनाया, अपने ही कौशल से छला है। इसीलिए कि वह हरदम महसूस करे, आदमी नियति से हमेशा ही छोटा है।

प्रवासी पुरुषोत्तम के प्रति वांछा ने कितनी कोमल भावनाएं की होंगी, उसे ही कठघरे में पुरुषोत्तम के सामने अपने दुराचारी पति के आक्षेपों के बीच खड़ा होना पड़ा। मैंने दोनों को देखा—दोनों ही चौंके और स्तब्ध हो गए ! वांछा के नेत्रों में विराट विस्मय था, पर पुरुषोत्तम के कसकर बंद किए गए होंठों के बावजूद आँखों में जो उपालंभ-भरी हँसी लहराई, क्षण में ही जैसे बुझ भी गई। दोनों के मुंह पर वेदना की घनीभूत छाया थी। दोनों की दृष्टि नमित और व्यथित थी !

सीता के पाताल-प्रवेश के बाद ही धरती जड़ हो गई, नहीं तो ऐसा द्रावक दृश्य वह कैसे सह पाती ? वांछा के भय, विस्मय और कौतूहल-विस्फारित नेत्र, पुरुषोत्तम की स्निग्ध, स्थिर और शान्त दृष्टि का विनिमय देखकर आकाश और पृथ्वी का वह छोर जिसे क्षितिज कहते हैं, क्षण-भर अवश्य ही लजा गया होगा।

पर पुरुषोत्तम की चेष्टाओं में संयम और धैर्य का तनाव आता गया, वांछा स्वप्नाविष्ट-सी खोती गई—कठघरे में ही उसने भाव-विह्वलता से अपने सिर हिलाए—'नहीं, नहीं, मैं कान नहीं···'फिर अधूरे वाक्य में ही उसे अपनी स्थिति का भान हुआ। याद है, पुरुषोत्तम हल्के-से खाँसा

था। फिर उसने अपनी आँखें धरती में रोप लीं। चिन्मय और उसके वकीलों ने उसपर जो कीचड़ उछाले, बनवारी चाचा के वकीलों ने किस प्रकार उसका खंडन कर चिन्मय का सारा अपराध सप्रमाण सिद्ध कर दिया !

गवाही में पड़ोसियों और चिन्मय के कई मित्रों ने ही सबलता दी। तब शर्म से लाल मुँह, नमित दृष्टि किए पुरुषोत्तम पर क्या गुज़री होगी ?

सबके पीछे सबकी नजर बचाकर अपने पाप का परिणाम मैं भी देख रहा था। कई बार चिन्मय के आरोपों पर उत्तेजित हो उठा, पर खून के घूंट पीकर रह गया। मुझमें उनका सामना करने की शक्ति कहाँ थी ?

पुरुषोत्तम का बार-बार मुट्ठी बांधना और खोलना देखकर उसका भयानक संघर्ष मैं लक्षित कर रहा था, जिसपर वह काबू पाने की चेष्टा कर रहा था। फिर, अपना नाम पुकारे जाने पर वांछा जैसे स्वप्न से जगी हो, उसने पंक्तियों में ही अपनी सफाई दी—'माननीय अदालत के समक्ष, चिन्मय राव ने मुझपर जो आरोप लगाए, उसके सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। इस बच्चे, पड़ोसियों और गवाहों ने जो कुछ कहा, ठीक है। जिस अप्रौढ़ वय में मानस-मन्दिर में जिस देवता की प्रतिष्ठा थी, उसका स्पर्श भी मुझे नहीं मिला। मैंने मात्र मानसिक रूप से ही आराधना की। इसी साधना की पूर्ति में चिन्मय के अत्याचार सहे, आज तक जीवित रही और मेरा कथन सत्य है तो मेरा अन्तर्यामी··· घट-घटव्यापी प्रभु···'

वाक्य पूरा भी नहीं हुआ कि उसकी काया में जुम्बिश-सी हुई। टूटकर गिरती लता की तरह वह कठघरे के आगे की ओर झुकी और सहारे के लिए बाहें फैला दीं। देखते न देखते स्त्रियों की पंक्ति तोड़कर छवि ने आकर उसे सँभाला और रक्त का एक बड़ा-सा कतरा उसके मुंह से गिरा और वांछा ने छवि के कंधों का सहारा ले लिया। अदालत में शोर मच गया। किसीने कहा—'यह स्त्री न्यायाधीश की पत्नी है।' तभी मैं छवि को पहचान सका।

यही है वह महिमामयी छवि ! श्रद्धा से मस्तक नत हो गया।

छवि की अपनी गाड़ी पर ही वांछा को फिर अस्पताल ले जाया गया और अदालत में पुनः शान्ति की व्यवस्था की गई !

मेरा मन फिर अदालत में नहीं लगा—रास्ते में ही गाड़ी रुकवाकर छवि फफक उठी—'वांछा, श्री बहन, कहां चली गई ?'

छवि की गोद में ही वांछा ने दम तोड़ दिया। जैसे छवि ने उसकी शेष ली अपने आँचल में समेट ली। नदी के दो कगार आपस में कभी नहीं मिलते हैं। मैंने इन्हें मिलते हुए देखा, पर जब ये मिलते हैं, एक मिट जाता है।

जिस छवि के पत्र का उत्तर वांछा बार-बार कागज-कलम लेकर भी नहीं लिख पाई, कई दिनों तक कोरे कागज़ पर सर रोपकर फूट-फूटकर रोते और रोते-रोते अचेत हो जाते देखकर ही मैं छवि का वह पत्र उठा ले गया था। उसी छवि को निःशब्द मौन उत्तर उसने अपने को मिटाकर दिया। उत्सुकता पुनः खींचकर मुझे अदालत में ले आई।

लेकिन हाहाकार मची उस अदालत में भी पत्थर की मूर्ति की तरह पुरुषोत्तम समाधीस्थ बैठा रहा।

उसने दृढ शब्दों में कहा—'चिन्मय राव के सभी अपराध प्रमाणित हो चुके हैं, अदालत इन्हें फांसी की सजा देती है।'

कड़ियों में कसे चिन्मय की सर्द निगाहें, फिर एकाएक होंठों को चबाकर पुरुषोत्तम की ओर देखना भी मैंने देखा और इच्छा हुई कि चिन्मय के चेहरे पर जाकर थूक आऊँ। पूछूँ कि—ओ पामर, नीच कुत्ते, तूने किस मुंह से कहा था, 'कान्तजी, साँप जैसे जहरीले और असुन्दर जीव के पास उसकी मणि बहुमूल्य और सुन्दर होती है, मैं वांछा की रक्षा, उसकी सँभाल उससे भी अधिक करूंगा, क्योंकि मैं मनुष्य हूँ !'

कितने पत्रों में तूने उसकी प्राप्ति की प्रार्थनाएँ नहीं की थीं ? कभी-कभी विरक्त भी हुआ तो नई लड़कियों के ही आकर्षण से या वांछा के टके-से उत्तर से ही। नहीं तो, तू उस बालिका को केन्द्र बनाकर किस प्रकार घूम रहा था, आखिर उसे निगल ही बैठा।

इन्हीं आधारों पर मैंने कहा था—'वांछा, तेरा दाम्पत्य सुखी होगा।'

आदमी के रूप में पिशाच का मैंने दर्शन किया। और आदमी के ही वेश में श्मशान में नंगे पाँव, नंगे बदन, अपने हाथों में वांछा का शव उठाए गंगा की धारा से लौटते हुए जिस देवपुरुष को मैंने देखा, उसे पहले क्यों नहीं पहचाना ? मर्यादा के लिए बेटी को गँवानेवाले बनवारी चाचा तक उसे आहत-लज्जित-सा निहारते रहे। कौन-सी शक्ति थी जो पुरुषोत्तम् के हाथों से वांछा का शव उतार पाती ?

छवि ने पीड़ाओं से पछाड़ खाते पुरुषोत्तम के कंधे थपथपाए—'यह समय अपने शेष कर्म करने का है, इस तरह धीरज खोने के लिए नहीं।'

छवि की प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक स्वर में वांछा की शेष साधें मूर्त हो रही थीं।

चिता पर सोई वांछा को गले लगाकर छवि रो उठी—'बहन, तुम्हारी वस्तु तुम्हें लौटा देने की भावना से ही तुम्हें याद किया था, पर तुम रूठी ही रहीं! तुम्हारा स्थान मैंने हमेशा ही सुरक्षित रखा है, मुझे शक्ति दो, शक्ति दो, वांछा, तुम्हारे पुरुषोत्तम को सँभाल सकूँ।'

लगता था, वांछा मुस्करा रही है। बंद होंठों और आँखों से भी ऐसी जीवंत तृप्ति फूटती है, यह भी देखा। बचपन में अनेक बार इस तरह नींद के बहाने कर उसे एकाएक खिलखिलाकर उठते देख चुका था, आज भी वैसी ही आशा थी। उसके बदले चिता की ऊँची-ऊँची लपटें उठीं, हँसीं खिलखिलाईं और उसे निगलकर जाने कहाँ अंतर्धान हो गईं।

फिर वांछा मुट्ठी-भर राख होकर रह गई। कुछ विजय ले गया, कुछ पुरुषोत्तम, मैं तो छूने का साहस भी नहीं कर सका!

बनवारी चाचा विजय को लेकर घर चले गए होंगे। चाची के करुण क्रन्दन से दिशाएँ, गांव का सूना उदास प्रान्तर काँप उठा होगा! पुरुषोत्तम छवि के हृदय पर अपने दुःख का भार डालकर हल्का हो लेगा। चिन्मय जेल की सूनी कोठरी में बैठा अपना आत्मज्ञान पाता होगा, लेकिन मैं कहाँ जाऊँ ?

पत्नी मेरे पापों से जभी अवगत हुई, तभी से विरोध कर रही है। बेटी मेरा विश्वास नहीं करती।

कहाँ बेटी के ब्याह का निमंत्रण देने आया, तीन महीने लग्न रोक

रखने के बाद जब जाऊँगा, क्या कहूँगा—'लो, मैं यही शापों की गठरी बाँध लाया हूँ।' चिन्मय, तुमने क्या कर डाला ? जिस पत्नी और बच्चों के लिए पुरुष ज़माने-भर की चुनौती सहता है, जिनके सुख के लिए पाप भी करता है, तूने उन्हें ही अपने हाथों नष्ट कर डाला ? मात्र अपने स्वार्थ और पेट के लिए ? इतना तो पशु भी कर लेता है।

नियति हमेशा ही मनुष्य से बलवान है। चिन्मय वांछा, पुरुषोत्तम सभी उसके रचे-रचाए खेल खेलते हैं, मगर कैकेयी की तरह इस विनाश का होता बने कान्त, मैं तुझे किस श्रेणी में रखूँ ?

बलिपशु और देवता के बीच जो सम्बन्ध हो, उसे वे ही जानें, लेकिन पत्थर के यूप पर जो रक्त की बूंदें चूती हैं, उससे उसका क्या सधता है ?

बोल रे पापी, तू भी इस बलि का ऐसा ही यूप है। इस रक्त-पिपासा की तृप्ति कर क्या सचमुच तेरी प्रतिशोधक ज्वालाएँ शमित हुई ? तेरी शेष मनोवांछा पूरी हुई, अथवा पापों की यह दुर्वह गठरी, जिसमें सिर्फ अंगारे ही अंगारे भरे हैं, खुलकर तेरा सब कुछ जला देने को जिह्वा लपलपाती आ रही है !

○○○

